वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४६ अंक ६ जून २००८

रामकृष्ण मिशन,
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ. ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २००८

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

५ वर्षों के लिए — रु. २७५/-

संस्थाओं के लिये —

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए — रु. ४००/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,२००/-

विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४६ जून २००८ अंक ६

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किंचित्कर्मकोटिभिः ।।११।।

अन्वय – (निष्काम) कर्म चित्तस्य शुद्धये, तु वस्तु उपलब्धये न (अस्ति)। वस्तुसिद्धिः विचारेण (सम्भवति)। कर्मकोटिभिः किंचित् न।

अर्थ– निष्काम कर्म के द्वारा आत्म-स्वरूप की प्राप्ति नहीं, बल्कि चित्त की शुद्धि मात्र होती है; आत्मानुभूति तो करोड़ों कर्मों के द्वारा भी नहीं, बल्कि केवल विचार के द्वारा होती है।

सम्यग्विचारतः सिद्धा रज्जुतत्त्वावधारणा ।
भ्रान्तोदितमहासर्पभयदुःखविनाशिनी ।।१२।।

अन्वय – भ्रान्त-उदित-महासर्प-भय-दुःख-विनाशिनी (या) रज्जु-तत्त्व-अवधारणा (सा) सम्यग्-विचारतः सिद्धा (भवति)।

अर्थ – उचित विचार के द्वारा ही उस रस्सी के वास्तविक स्वरूप की धारणा हो सकती है, जिसमें सर्प की भ्रान्ति होने के कारण यह महान् भय तथा दुःख उत्पन्न हुआ है।

अर्थस्य निश्चयो दृष्टो विचारेण हितोक्तितः ।
न स्नानेन न दानेन प्राणायामशतेन वा ।।१३।।

अन्वय - अर्थस्य निश्चयः स्नानेन न, दानेन न, प्राणायाम-शतेन वा न, हित-उक्तितः विचारेण दृष्टः ।

अर्थ – तीर्थों में स्नान, दान या सैकड़ों प्राणायाम करने से भी नहीं, अपितु गुरु की हितकर उक्तियों पर विचार करने से ही ब्रह्मतत्त्व की अनुभूति देखने में आती है।

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः ।
उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन्सहकारिणः ।।१४।।

अन्वय – फलसिद्धिः विशेषतः अधिकारिणम् आशास्ते । अस्मिन् देशकालाद्याः उपायाः सहकारिणः सन्ति ।

अर्थ – साधना में फलसिद्धि के लिये उत्तम अधिकारी होने की विशेष आवश्यकता है। इस सिद्धि में स्थान, काल आदि उपाय उसके सहायक मात्र हैं।

अतो विचारः कर्तव्यो जिज्ञासोरात्मवस्तुनः ।
समासाद्य दयासिन्धुं गुरुं ब्रह्मविदुत्तमम् ।।१५।।

अन्वय - अतः जिज्ञासोः ब्रह्मविदुत्तमम् दयासिन्धुम् गुरुम् समासाद्य आत्मवस्तुनः विचारः कर्तव्यः ।

अर्थ – अतः जिज्ञासु साधक को चाहिये कि वह उत्तम ब्रह्मवेत्ता दयासिन्धु गुरु की शरण लेकर आत्म-वस्तु पर विचार करता रहे।

मेधावी पुरुषो विद्वानुहापोहविचक्षणः ।
अधिकार्यात्मविद्यायामुक्तलक्षणलक्षितः।।१६।।

अन्वय - मेधावी विद्वान् उहापोहविचक्षणः उक्त-लक्षण -लक्षितः पुरुषः आत्मविद्यायाम् अधिकारी (भवति) ।

अर्थ – जो मेधावी, विद्वान् तथा शास्त्रों के पक्ष का मण्डन और उसके विपक्ष का खण्डन करने में कुशल है, ऐसे लक्षणोंवाला व्यक्ति ही आत्मविद्या का अधिकारी है।

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मता ।।१७।।

अन्वय - विवेकिनः विरक्तस्य शमादि-गुणशालिनः मुमुक्षोः एव हि ब्रह्मजिज्ञासा-योग्यता मता ।

अर्थ – जो आत्मा-अनात्मा में विवेक कर सकता है, जो वैराग्यवान् है, जो शम आदि छह सम्पत्तियों से युक्त है, ऐसा मुमुक्षु – अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति में ही ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करने की योग्यता मानी गयी है।

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(मालकौंस–कहरवा)

छोड़कर भोगों की उलझन,
जपो मन रामकृष्ण प्रतिक्षण ।
करो जल्दी अपना उद्धार
क्षणिक-नश्वर है, जन-जीवन ।।१।।

करो प्रभु के चरणों का ध्यान
पढ़ो गीता-मानस का ज्ञान
काँच खण्डों में मत भूलो
शीघ्र पहचानो सच्चा धन ।।२।।

युगों तक भटकें जन-वन में
मोह माया के बन्धन में,
इसे मत जाने दो निष्फल
बड़ा दुर्लभ है मानव-तन ।।३।।

सौंप दो सब कुछ प्रभु के हाथ
मिले जो, ग्रहण करो सिर-माथ,
भला कर लो 'विदेह' अपना
लगाओ सत् चित् सुख में मन ।।४।।

– २ –

कुण्डली

नदिया के इस पार बसें जो, भरते ठण्डी साँस,
कहते, सब सुख उसी पार है, रखते दृढ़ विश्वास ।

रखते दृढ़ विश्वास, भाग्य का रोना रोते,
जो कुछ मिला हुआ है, यों उसको भी खोते ।।

कह 'विदेह' बस लगें, दूर के ढोल सुहाने ।
यथालाभ सन्तोष करो, सच्चा सुख पाने ।।

शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय उत्थान

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

सभी लक्षणों से यही प्रकट हो रहा है कि समाजवाद या जनता द्वारा शासन का कोई भी रूप – उसे आप चाहे जिस भी नाम से पुकारें – आ रहा है। लोग निश्चय ही चाहेंगे कि उनकी सांसारिक जरूरतों की पूर्ति हो, उन्हें काम कम करना पड़े, उनका शोषण न हो, युद्ध न हो, खाने को अधिक मिले। इस देश की या कोई अन्य सभ्यता, यदि धर्म तथा मनुष्य की अच्छाई पर आधारित न हो, तो उसके टिक पाने की क्या गारंटी है?[२८]

नारी जागरण

सर्वप्रथम स्त्रियों का वर्तमान दशा से उद्धार करना होगा। आम जनता को जगाना होगा। तभी तो भारतवर्ष का कल्याण होगा।[२९]

स्त्रियों की पूजा करके ही सभी राष्ट्र बड़े बने हैं। जिस देश में, जिस राष्ट्र में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वह देश या राष्ट्र न कभी बड़ा बन सका है और न भविष्य में कभी बन सकेगा।[३०]

शिक्षा – मूलभूत आवश्यकता

शिक्षा ! शिक्षा ! केवल शिक्षा ! यूरोप के अनेक नगरों में भ्रमण करते हुए और वहाँ के गरीबों के भी सुख-सुविधाओं तथा शिक्षा को देखकर मुझे अपने गरीब देशवासियों की याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर मिला – शिक्षा से। शिक्षा और आत्मविश्वास से उनके भीतर स्थित ब्रह्मभाव जाग गया है, जबकि हमारा क्रमश: संकुचित हो रहा है।[३१]

अपने निम्न वर्ग के लोगों के प्रति हमारा एकमात्र कर्त्तव्य है – उन्हें शिक्षा देना और उनके खोये हुए व्यक्तित्व का पुन: विकास करना।... उन्हें उत्तम विचार देने होंगे। उनके चारों ओर की दुनिया में जो कुछ हो रहा है, उसके बारे में उनकी आँखें खोल देनी होंगी; इसके बाद अपना उद्धार वे स्वयं कर लेंगे। हर राष्ट्र, हर पुरुष और हर स्त्री को अपना उद्धार स्वयं करना होगा। उन्हें विचार दे दो – बस, एक इसी सहायता की उन्हें जरूरत है, इसके फलस्वरूप बाकी सब कुछ स्वयं ही हो जायेगा। हमें केवल रासायनिक पदार्थों को एकत्र कर देना है, रवा बँधना तो प्राकृतिक नियमों से ही सम्पन्न होगा। उनके दिमागों में विचार भर देना ही हमारा कर्तव्य है, बाकी सब वे स्वयं कर लेंगे। भारत में बस यही करना है।[३२]

अपनी समस्याओं को हल कर लेनेवाला एक कल्याणकारी और प्रबल जनमत तैयार करने में समय लगता है – काफी लम्बा समय लगता है और इस दौरान हमें प्रतीक्षा करनी होगी। अत: सामाजिक सुधार की पूरी समस्या यह रूप लेती है – कहाँ हैं वे लोग, जो सुधार चाहते हैं? पहले उन्हें तैयार करो। सुधार चाहनेवाले लोग हैं कहाँ? थोड़े-से लोग किसी बात को उचित समझते हैं और उसे अन्य सब पर जबरन लादना चाहते हैं।... राष्ट्र को पहले शिक्षित करो।... अत: समाज-सुधार के लिये भी पहला कर्तव्य है – लोगों को शिक्षित करना। जब तक यह कार्य सम्पन्न नहीं होता, तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।[३३]

जिस राष्ट्र की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना ही अधिक प्रचार है, वह राष्ट्र उतना ही उन्नत है। भारत के सर्वनाश का मुख्य कारण यही है कि देश की सारी विद्या-बुद्धि, राज-शासन और दम्भ के बल पर मुट्ठी भर लोगों के एकाधिकार में रखी गयी। यदि हमें फिर से उन्नति करनी है, तो हमको उसी मार्ग पर चलना होगा, अर्थात् जनता में विद्या का प्रसार करना होगा।[३४]

आत्मनिर्भरता के लिये शिक्षा

लोगों को यदि आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा न दी जाय, तो सारे संसार की दौलत से भारत के एक छोटे-से गाँव की भी सहायता नहीं की जा सकती है। नैतिक तथा बौद्धिक – दोनों ही प्रकार की शिक्षा प्रदान करना हमारा पहला कार्य होना चाहिये।[३५]

विदेशों के साथ आदान-प्रदान

लेन-देन ही संसार का नियम है और यदि भारत फिर से उठना चाहे, तो यह परम आवश्यक है कि वह अपने रत्नों को बाहर लाकर पृथ्वी के राष्ट्रों में बिखेर दे और इसके बदले में वे जो कुछ भी दे सकें, उसे सहर्ष ग्रहण करे। **विस्तार ही जीवन है और संकोच मृत्यु; प्रेम ही जीवन है और द्वेष ही मृत्यु।** हमने उसी दिन से मरना शुरू कर दिया, जब से हम अन्य जातियों से घृणा करने लगे, और यह मृत्यु बिना इसके किसी दूसरे उपाय से रुक नहीं सकती कि हम फिर से विस्तार को अपनायें, जो कि जीवन का चिह्न है।

अत: हमें पृथ्वी के सभी राष्ट्रों से मिलना-जुलना पड़ेगा। प्रत्येक हिन्दू जो विदेश भ्रमण करने जाता है, उन सैकड़ों
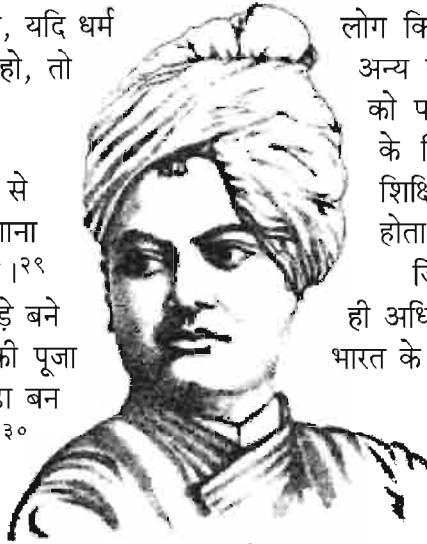
लोगों की अपेक्षा अपने देश को अधिक लाभ पहुँचाता है, जो केवल अन्धविश्वासों एवं स्वार्थपरता की गठरी मात्र है।[३६]

भारत के भाग्य का निपटारा उसी दिन हो चुका, जब उसने इस 'म्लेच्छ' शब्द का आविष्कार किया और दूसरों से अपना नाता तोड़ लिया।[३७]

भारत के पतन और दारिद्र्य-दु:ख का प्रधान कारण यह है कि घोंघे की तरह अपना सर्वांग समेटकर उसने अपना कार्यक्षेत्र संकुचित कर लिया था तथा आर्येतर दूसरे राष्ट्रों के लिये, जिन्हें सत्य की तृष्णा थी, अपने जीवनप्रद सत्य-रत्नों का भण्डार नहीं खोला था। हमारे पतन का एक और प्रधान कारण यह भी है कि हम लोगों ने बाहर जाकर दूसरे राष्ट्रों से अपनी तुलना नहीं की।... अत: तुम्हें विदेश जाना होगा, **आदान-प्रदान ही अभ्युदय का रहस्य है।** क्या हम सर्वदा दूसरों से लेते ही रहेंगे? क्या हम लोग सदा ही पश्चिमवासियों के पद-प्रान्त में बैठकर ही सब बातें, यहाँ तक कि धर्म भी सीखेंगे? हाँ, हम उन लोगों से कल-कारखाने के काम सीख सकते हैं, और भी दूसरी अनेक बातें उनसे सीख सकते हैं, परन्तु हमें भी उन्हें कुछ सिखाना होगा। और वह है हमारा धर्म, हमारी आध्यात्मिकता। संसार एक सर्वांगीण सभ्यता की अपेक्षा कर रहा है। शताब्दियों की अवनति, दु:खों तथा दुर्भाग्य के चक्र में पड़कर भी हिन्दू जाति उत्तराधिकार में प्राप्त धर्मरूपी जिन अमूल्य रत्नों को यत्नपूर्वक अपने हृदय से लगाये हुये है, उन्हीं रत्नों की आशा से संसार उसकी और आग्रहभरी दृष्टि से निहार रहा है। तुम्हारे पूर्वजों के उन्हीं अपूर्व रत्नों के लिये भारत से बाहर के लोग कैसे लालायित हो रहे हैं, यह मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ।... इसलिये हमें भारत के बाहर जाना ही होगा। हमारी आध्यात्मिकता के बदले में वे जो भी कुछ दें, हमें लेना होगा। चेतना-राज्य के अपूर्व तत्त्वों के बदले हम जड़-राज्य के अद्भुत तत्त्वों को प्राप्त करेंगे। चिर काल तक शिष्य रहने से हमारा काम न होगा, हमें आचार्य भी होना होगा। समभाव के न रहने पर मित्रता सम्भव नहीं। जब एक पक्ष सदा ही आचार्य का आसन पाता रहता है और दूसरा पक्ष सदा ही उसके चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण किया करता है, तब दोनों में कभी समभाव की स्थापना नहीं हो सकती। यदि तुम्हारी अँग्रेज और अमरीकी जाति से समभाव रखने की इच्छा हो, तो जैसे तुम्हें उनसे शिक्षा प्राप्त करनी है, वैसे ही उन्हें शिक्षा देनी भी होगी और अब भी तुम्हारे पास अनेक शताब्दियों तक संसार को शिक्षा देने की यथेष्ट सामग्री है।[३८]

आज हमें जरूरत है वेदान्तयुक्त पाश्चात्य विज्ञान की, ब्रह्मचर्य के आदर्श, और श्रद्धा तथा आत्मविश्वास की।... आज जरूरत है – विदेशी नियंत्रण हटाकर हमारे विविध शास्त्रों, विद्याओं का अध्ययन हो और साथ-ही-साथ अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान भी सीखा जाय। हमें उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये यांत्रिक-शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी, जिससे देश के युवक नौकरी ढूँढ़ने के बजाय अपनी आजीविका के लिये समुचित धनोपार्जन भी कर सकें।[३९]

क्या समता, स्वतन्त्रता कार्य-कौशल, पौरुष में तुम पाश्चात्यों के भी गुरु बन सकते हो? क्या तुम उसी के साथ-साथ स्वाभाविक आध्यात्मिक अन्त:प्रेरणा व अध्यात्म-साधनाओं में एक कट्टर सनातनी हिन्दू हो सकते हो।[४०]

जैसे संघ स्थापना की पश्चिमी कार्यप्रणाली और बाह्य सभ्यता के भाव हमारे देश की नस-नस में समा रहे हैं, चाहे हम उनका ग्रहण करें या न करें, वैसे ही भारत की आध्यात्मिकता और दर्शन पाश्चात्य देशों को प्लावित कर रहे हैं। इस गति को कोई रोक नहीं सकता और हम भी पश्चिम की किसी-न-किसी प्रकार की भौतिकवादी सभ्यता का पूर्णत: प्रतिरोध नहीं कर सकते। इसका कुछ अंश सम्भव है, हमारे लिये अच्छा हो और पश्चिम के लिये आध्यात्मिकता का कुछ अंश हितकर हो। इसी तरह सामंजस्य की रक्षा हो सकेगी। यह बात नहीं कि हर चीज हमें पश्चिमवालों से सीखनी चाहिये, या पश्चिमवालों को जो कुछ सीखना है, वह सब हमसे ही सीखें।[४१]

गरीब लोगों के जीवन को इतने कड़े धार्मिक तथा नैतिक बन्धनों में जकड़ दिया गया है, जिनसे उनका कोई लाभ नहीं है। उनके कामों में हस्तक्षेप मत करो। उन्हें भी संसार का थोड़ा आनन्द लेने दो। तुम देखोगे कि वे क्रमश: उन्नत होते जाते हैं और बिना किसी विशेष चेष्टा के उनके हृदय में आप-ही-आप त्याग का उद्रेक होगा। पाश्चात्य जातियों से इस दिशा में (भोग के विषय में) हम थोड़ा-बहुत सीख सकते हैं, किन्तु यह शिक्षा ग्रहण करते समय हमें बहुत सावधान रहना होगा। मुझे बड़े दु:ख से कहना पड़ता है कि आजकल हम पाश्चात्य भावनाओं से अनुप्राणित जितने लोगों के उदाहरण पाते हैं, वे अधिकतर असफलता के हैं, इस समय भारत में हमारे मार्ग में दो बड़ी रुकावटें हैं – एक ओर हमारा प्राचीन हिन्दू समाज और दूसरी ओर अर्वाचीन यूरोपीन सभ्यता। इन दोनों में यदि कोई मुझसे एक को पसन्द करने के लिये कहे, तो मैं प्राचीन हिन्दू समाज को ही पसन्द करूँगा।[४२]

सन्दर्भ-सूची – २८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३४३; **२९.** वही, खण्ड ६, पृ. ३७; **३०.** वही, खण्ड ६, पृ. १८२; **३१.** वही, खण्ड ६, पृ. ३११; **३२.** वही, खण्ड २, पृ. ३६९-७०; **३३.** वही, खण्ड ५, पृ. ११०-११; **३४.** वही, खण्ड ६, पृ. ३१०-११; **३५.** वही, खण्ड ६, पृ. ३५०; **३५.** वही, खण्ड ६, पृ. ३५०; **३६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३२; **३७.** वही, खण्ड ३, पृ. ३२४; **३८.** वही, खण्ड ५, पृ. २१०; **३९.** वही, खण्ड ८, पृ. २२९-३१; **४०.** वही, खण्ड २, पृ. २३१; **४१.** वही, खण्ड ५, पृ. ६८; **४२.** वही, खण्ड ५, पृ. ४७

❖ **(क्रमश:)** ❖

श्री हनुमत्-चरित्र (४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

यदि आप महाभारत में भीष्म और परशुराम जी का संवाद पढ़े, तो रामायण से उसका अन्तर समझ में आ जायेगा। ये परशुरामजी तो द्वापर युग में भी थे। भीष्म ने इन्हीं से शस्त्र-विद्या प्राप्त की थी। जब उन्होंने अम्बा से विवाह करने से मना कर दिया, तो अम्बा ने जाकर परशुरामजी से शिकायत की – "यह मेरे साथ घोर अन्याय हो रहा है। भीष्म राजकुल से मेरा हरण करके ले आये। मैं जिससे विवाह करना चाहती थी, अब वह भी मुझे स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। आप भीष्म को आज्ञा दीजिये कि ये मुझसे विवाह करें।"

ध्यान रहे – भीष्म, कर्ण और दुर्योधन – ये तीनों तीन प्रकार के अभिमान के प्रतीक हैं – भीष्म सात्त्विक अभिमान के, कर्ण राजसिक अभिमान के और दुर्योधन तामसिक अभिमान के। अधिक विस्तार से इसकी व्याख्या का अवकाश नहीं है। भीष्म ने अन्याय किया था। उस राजकन्या का हरण करने के बाद उससे विवाह न करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं था। और जब उन्होंने अन्याय किया था, तो गुरु की आज्ञा है कि तुम विवाह करो। परन्तु भीष्म ने कहा – "नहीं, मैं उसे नहीं स्वीकार कर सकता। मैंने पिताजी को वचन दिया है कि मैं विवाह नहीं करूँगा।" परशुरामजी बोले – "मैं गुरु के रूप में पिता से बड़ा हूँ और आज्ञा देता हूँ कि तुम विवाह करो।" उन्होंने कहा – "कदापि नहीं।" और तब परशुरामजी अपने सहज स्वभाव से बोल पड़े – "तुम शायद मेरा पुराना इतिहास भूल गये हो। तुम्हें पता है? मैंने सारे क्षत्रिय जाति को इक्कीस बार संसार से मिटा दिया है।" महाभारत में लिखा है कि भीष्म ने कहा – "हाँ, मैंने सुना तो है, परन्तु उसे सुनकर मुझे यही लगता है कि तब भीष्म जैसा कोई क्षत्रिय नहीं रहा होगा।" अन्ततः भीष्म और परशुरामजी का युद्ध हुआ और दोनों ओर से ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर दिया गया। सारा संसार जलने लगा। देवताओं ने उनसे ब्रह्मास्त्र वापस ले लेने को प्रार्थना की, तो भीष्म बोले – "मैं क्षत्रिय हूँ, मैं कैसे वापस ले सकता हूँ?" यह भीष्म की भाषा थी। और दूसरी ओर रामायण में श्रीराम भी कह सकते थे कि वे तो साक्षात् ईश्वर ही हैं। पर सत्य तो यह है कि व्यक्ति कैसे अपने आपको असीम से ससीम बना देता है, कैसे व्यक्ति अहंकार के द्वारा अपने को छोटा बना लेता है। अहंकार से व्यक्ति बड़ा नहीं, बल्कि छोटा हो जाता है। व्यक्ति यदि गहराई से विचार करके देखे, तो समझ में आता है कि हम जब भी किसी चीज का अभिमान करते हैं, तो यह मानकर करते हैं कि अभिमान से हम बड़े हो जायेंगे, पर अभिमान से वस्तुतः व्यक्ति छोटा हो जाता है। यहाँ यही संकेत है।

जब परशुरामजी ने यह कह दिया कि मैं तो ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रियों का विरोधी हूँ, तो क्या वे बड़े हो गये? भगवान के कितने गुण हैं? भगवान के लिये तो सर्वत्र लिखा हुआ हैं – **राम अनंत अनंतगुण** – ईश्वर के गुण अनन्त हैं। फिर जब वे ब्राह्मण बन गये और कहा कि मैं चुनौती देता हूँ, तुम क्षत्रिय हो, मेरे साथ युद्ध करो, मुझे पहचानो। तो श्रीराम ने हाथ जोड़कर यही कहा – महाराज, मेरा और आपका युद्ध कैसे हो सकता है? – क्यों? उन्होंने कहा – यदि नाम का ही झगड़ा हो, तो कहाँ मेरा तो छोटा-सा 'राम' नाम और कहाँ आपका इतना बड़ा 'परशुराम' –

राम मात्र लघु नाम हमारा।
परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा ।। १/१२८/६

आपका नाम बहुत बड़ा और मेरा नाम बहुत छोटा। और आप कहते हैं लड़ने की बात, तो लड़ने से क्या होगा? कोई हारेगा और कोई जीतेगा। तो मैं यही कहूँगा कि हम तो हर प्रकार से आपसे हारे हुए हैं और हे ब्राह्मण देवता, आप हमारे अपराध क्षमा करें –

सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे।
छमहु बिप्र अपराध हमारे ।। १/२८२/८

यह तो हुई श्रीराम की भाषा और भीष्म की भाषा! वे महाभारत के महानतम पात्र हैं, पर उनकी भाषा और श्रीराम की भाषा का अन्तर यही है। भीष्म कहते हैं – नहीं, मैं हार नहीं स्वीकार कर सकता। परन्तु भगवान राम इतनी बड़ी बात कह गये और प्रभु के बोलने की शैली बहुत मीठी है। उन्होंने एक बड़ा संकेत दिया और वह यह था कि महाराज, यदि आपको अपने ब्राह्मणत्व पर बहुत अधिक गर्व है, तो ब्राह्मण की शोभा तो क्षमा में ही है और यदि आप ब्राह्मण हैं, तो मैं यही आशा करता हूँ कि आप मुझे क्षमा कर देंगे।

परशुरामजी ने पूछा – तुमने धनुष तोड़ दिया तो तुमको अभिमान अवश्य हुआ होगा? भगवान राम बोले – महाराज,

मैं अभिमान कैसे करता? मुझमें तो कोई गुण ही नहीं है, परन्तु आप ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण के नौ गुण बताये गये हैं, तो आप में वे नौ गुण अवश्य होंगे –

देव एकु गुनु धनुष हमारे ।
नव गुन परम पुनीत तुम्हारे ।। १/२८२/७

परशुरामजी में नौ गुण होना उनकी प्रशंसा है या निन्दा? वैसे तो यह प्रशंसा है, पर गहराई से देखें कि अनन्त गुणों वाला यदि नौ गुणों में ही सिमट गया, तो बहुत घाटे में रह गया। ईश्वर के रूप में अनन्त गुणमय व्यक्ति केवल नौ गुणों का स्वामी बन गया और इसमें एक बड़ा दार्शनिक संकेत है।

बड़ा विवाद है कि ईश्वर सगुण हैं या निर्गुण, निराकार हैं या साकार? दोनों पक्ष विवाद करते रहते हैं। किसी ने कहा – भगवान से ही क्यों न निर्णय करा लिया जाय कि वे अपने को निर्गुण मानते हैं या सगुण। भगवान से पूछा गया। उन्होंने श्रीमद्-भागवत में जो उत्तर दिया है, उसका अर्थ आप को बड़ा अनोखा लगेगा। भगवान बोले – " 'निर्गुण' – मैं तो निर्गुण हूँ।" – "लेकिन महाराज, दुनिया भर के भक्त तो आपको सगुण कहते हैं!" इस पर उन्होंने कहा – "हूँ तो मैं निर्गुण ही, परन्तु ये गुण मेरी सेवा करते हैं। इसीलिये भक्त लोग मुझे सगुण कह देते हैं। स्वदृष्टि से मैं निर्गुण और भक्तों की दृष्टि से सगुण हूँ।" यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। स्वदृष्टि से निर्गुण और भक्त की दृष्टि से सगुण।

इस सूत्र को गहराई से देखें, तो पता चलेगा कि हमारी अपनी रीति इसके ठीक उल्टी है। हम दूसरों की दृष्टि में निर्गुण और अपनी दृष्टि में सगुण हैं। दूसरे व्यक्ति तो यही कहेंगे कि इनमें कोई गुण नहीं है और हमें तो अपने में गुण-ही-गुण दिखाई देता है। जहाँ गुण को स्वीकार कर लिया गया। गुण का एक और भी अर्थ है, संस्कृत में गुण बन्धन को, रस्सी को कहते हैं। गुणी होने का तात्पर्य है अपने को गुण की सीमा में बाँध लेना। इससे व्यक्ति सीमित हो जाता है। भगवान बोले – "महाराज, आपने स्वयं ही स्वीकार किया कि आप ब्राह्मण हैं, तो आप में नौ गुण हैं।" उन्होंने पूछा – "तुममें कितने गुण हैं?" बोले – "महाराज, एक भी गुण नहीं है।" भगवान राम की भाषा, उनके शब्द सुनने में बड़े विचित्र लग रहे थे। पर परशुराम जी ने विचार किया और कहा – "तुम जब कहते हो कि मुझमें कोई गुण नहीं है, तो व्यवहार बिना गुण के चलेगा कैसे?" – क्यों? – संसार में जितने व्यवहार होते हैं, वे किसी-न-किसी गुण के आधार पर ही तो होते हैं। यदि आप यहाँ सुनने के लिये बैठे हुए हैं, तो वक्ता वक्तृत्व के गुण से ही तो बोल रहा है, युद्ध करनेवाला योद्धा वीरता के गुण से ही तो युद्ध करता है। तो भगवान राम ने उत्तर दिया, वह बड़ा दार्शनिक उत्तर था – "महाराज, मुझमें तो गुण नहीं है।" फिर उन्होंने अपने धनुष की ओर संकेत करके कहा – मुझमें तो कोई गुण नहीं है, पर यदि आप यह मानते हैं कि गुण के बिना व्यवहार ही नहीं चल सकता, तो यह देखिये इस धनुष में एक गुण है –

देव एकु गुनु धनुष हमारे। १/२८२/७

गुण डोरी या रस्सी को भी कहते हैं। भगवान ने धनुष की डोरी को दिखाते हुए कहा – महाराज, बस यही एक गुण है। इसमें एक बहुत बड़ा संकेत है। परशुराम जी और भगवान राम में क्या अन्तर है? परशुरामजी ने अपने को सगुण मान लिया, गुणवान मान लिया, ब्राह्मण मान लिया और भगवान राम ने अपने आपको अगुण माना और कहा कि यदि व्यवहार के लिये गुण की आवश्यकता हो, तो वह इस धनुष में है, जो क्षत्रिय होने का प्रतीक है।

प्रभु का संकेत क्या है? बोले – "जब युद्ध करना होता है, तो उस धनुष की डोरी को गुण को चढ़ा लेते हैं और युद्ध के बाद उसे उतार दिया जाता है।" परशुरामजी के पास फरसा है और श्रीराम के पास धनुष। संकेत यह है कि यहाँ तो गुण की जरूरत होने पर चढ़ा लिया जाता है और बाद में उतार दिया जाता है, पर आपका फरसा तो चढ़ा ही रहता है, वह उतरना जानता ही नहीं। तो जहाँ व्यक्ति ने गुण के बाद गुणाभिमान को लाद लिया, तो यह बड़ी समस्या हो जाती है। **गुण उपयोगी है, पर गुणाभिमान दुःखदायी।** गुणाभिमान क्या है? मान लीजिये आप एक अच्छी नौका में किसी नदी को पार करें। आप बड़े बुद्धिमान हैं और आपकी नौका बड़ी अच्छी है। पर नदी पार हो जाने के बाद यदि आप उस नौका को सिर पर लादे हुए चलें, तो इससे बढ़कर अविवेक क्या होगा? इसी प्रकार व्यवहार चलाने के लिये व्यक्ति कोई गुण भले ही स्वीकार कर ले, पर रात-दिन वह उस गुण को ढोता फिरे, तो वह गुण का बोझ ढोना हुआ। यहाँ संकेत यही है। यह एक बड़ा विचारणीय और गम्भीर प्रसंग है। अन्त में परशुरामजी ने श्रीराम की वाणी पर विचार किया कि ये क्या कह रहे हैं, इनका क्या तात्पर्य है और तब वे श्रीराम से बोले – "मैं भी तुम्हारी एक परीक्षा लेना चाहता हूँ। तुमने शिवजी का धनुष तोड़कर दिखाया। विश्वामित्र ने तुमसे धनुष चलवाया। तुमने बहुत अच्छा चलाया। ताड़का का वध किया। सुबाहु का वध किया। जनक ने धनुष तुड़वाया, तुमने तोड़ दिया। अब मेरे पास भी एक धनुष है और इस धनुष को यदि तुम खींचकर चढ़ा दो तो मैं समझ लूँगा कि अब वह पूर्ण अवतार हो गया है और मेरी भूमिका समाप्त हो चुकी है।

अब हो सकता है, भगवान राम हाथ आगे बढ़ाते, धनुष की डोरी को पकड़कर खींचते, उसको चढ़ाते, पर भगवान ने हाथ आगे नहीं बढ़ाया। आश्चर्य! परशुरामजी का तात्पर्य मानो यह था कि जब कहते हो कि धनुष मैंने नहीं तोड़ा, तो क्या बिना कर्ता के भी कभी कर्म हो सकता है? करनेवाला न

हो, तो कर्म कैसे होगा? तुमने धनुष नहीं तोड़ा, तो अपने आप कैसे टूटेगा? भगवान राम बोले – "महाराज, वह तो एक पुराना धनुष था, स्पर्श करते ही टूट गया –

छुवत ही टूट पिनाक पुराना ।
मैं केहि हेतु करौ अभिमाना ।। १/२८३/८

भगवान ने परशुरामजी को प्रत्यक्ष दिखा दिया। यदि वे धनुष को लेकर चढ़ाते, तो इसका अर्थ होता कि करनेवाले ने किया, तब कर्म हुआ। पर उन्होंने हाथ नहीं बढ़ाया। जब वह धनुष स्वयं ही खिंच गया, स्वयं भगवान राम के हाथों में चला गया और स्वयं ही चढ़ गया, तो परशुरामजी को उत्तर मिल गया। जैसे बिना खींचे खिंच गया, वैसे ही बिना तोड़े टूट गया। इस सूत्र को ध्यान में रखें – धनुष का गुण तो डोरी है, भगवान बोले – "मैं तो निर्गुण हूँ, पर गुण ही मेरी ओर खिंच कर चले आ रहे हैं, तो वह अलग बात हुई।" परशुरामजी ने धनुष से पूछा – "तुम जाने के लिये इतने व्यग्र क्यों हो रहे हो?" धनुष बोला – "महाराज, उनको यदि मेरी आवश्यकता होती, तो हाथ बढ़ाते। उन्हें मेरी आवश्यकता है ही नहीं, वे तो मेरे बिना भी पूर्ण हैं, पर उनके बिना मैं अधूरा हूँ और यही चाहता हूँ कि जितनी शीघ्रता से यह समर्पण पूरा हो जाय, उतना ही अच्छा है। आप देख ही रहे हैं कि एक धनुष ने विलम्ब किया, तो टूटा पड़ा है। क्या आप चाहते हैं कि मैं भी टूटने के बाद ही सीखूँ?"

वह समर्पण पूरा होते ही परशुरामजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें यह नहीं लगा कि मैं हार गया। इसमें हार-जीत की तो बात ही नहीं थी। राम ने राम को पहचान लिया। यह मानो अभिन्नता के स्वरूप की अनुभूति थी। इसीलिये परशुरामजी जाते समय श्रीराम की स्तुति करते हैं और वे चौपाइयाँ जब आप पढ़ेंगे, तो उनमें एक विशेष बात देखने को मिलेगी –

जय रघुबंस वनज बन भानु ।
गहन दनुज कुल दहन कृपानू ।।
जय मद मोह कोह भ्रम हारी । १/२८५/१-२

उसमें बारम्बार 'जय' शब्द आया है। आप गिनियेगा, उसमें नौ बार 'जय' शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी ने परशुरामजी से पूछा – आपने नौ बार जय शब्द का प्रयोग क्यों किया? उन्होंने हँसकर कहा – "राम ने कहा कि आप ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण के नौ गुण होते हैं, तो मैंने सभी नौ गुणों को अर्पण कर दिया और मैं भी निर्गुण हो गया।" यही तो धन्यता है। यह जो निर्गुणत्व है और इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि वर्ण आदि धर्म के लिये है, अभिमान के लिये नहीं। होता यह है कि ब्राह्मण सेवा करेगा, तो कहेगा कि यह काम तो मैं करूँगा, पर वह काम तो मैं नहीं करूँगा। क्षत्रिय कहेगा कि यह काम मैं करूँगा, वह नहीं करूँगा। जो सेवा करनेवाला है, वह मानो अपनी सीमा बनाये हुए है। उसको लगता है कि यह कार्य करने पर मेरे अभिमान की हानि हो जायगी, मैं छोटा हो जाऊँगा।

शंकरजी बड़े चतुर हैं, इसीलिये उन्होंने कहा – सेवा करना है, तो बन्दर बनकर चलना ही ठीक है, क्योंकि बन्दर की कोई जाति तो होती नहीं है। हनुमानजी कौन हैं? वे ब्राह्मण हैं या क्षत्रिय हैं? वे वैश्य हैं या शुद्र हैं? वे मनुष्य हैं या पशु हैं? इसमें वह महान् संकेत है, जो कथा के प्रारम्भ में बताई गई थी। हनुमानजी को एक शाप है कि वे अपने बल को भूले रहते हैं और इसे उलट करके मैं कहूँगा कि हम लोगों का दुर्भाग्य है कि जब देखिये अपनी विशेषता ही याद रहती है। अपनी विशेषता को भूलना तो हम लोग जानते ही नहीं। अपने गुण की बहुत याद ही तो व्यक्ति को अभिमानी बना देती है। हर समय जिसे यही याद बनी हुई है कि मैं तो यह हूँ, यह हूँ, वह अभिमानी हुए बिना नहीं रहेगा। परन्तु हनुमानजी को तो यह बड़ा अच्छा शाप मिला हुआ है। इससे अच्छा शाप कोई क्या होगा? जब अपनी विशेषता को भूले रहना और जब उसकी आवश्यकता पड़े, तो किसी दूसरे द्वारा उसकी याद दिलाया जाना। यह एक महान् सूत्र है। हनुमानजी को यही महान् वरदान प्राप्त है। इसे हम शाप नहीं कहेंगे। अगर हनुमानजी सुग्रीव की रक्षा के लिये बालि का वध कर देते, हनुमानजी को भी यदि भ्रम हो जाता कि मैं न होता तो सुग्रीव को कौन बचाता। पर वे अपनी विशेषताओं को भूले हुये हैं। परन्तु वह विशेषता को भूलने के साथ-साथ जिस समय सचमुच उसकी आवश्यकता है, तब तो वह परिपूर्ण रूप में उनके चरित्र में आती है। सुग्रीव ने कहा – "ब्राह्मण बनकर जाइये, धनुष-बाण लिये हुये हैं, क्षत्रिय लगते हैं, तो ब्राह्मण के रूप में देखे तो शायद न मारे, किसी अन्य रूप में जाने पर कहीं मार ही न दें।" हनुमानजी ने ब्राह्मण का वेश बना लिया। यही सूत्र है – ब्राह्मण नहीं बन गये, ब्राह्मण का वेश बना लिया। अभिनेता रंगमंच पर जब कोई अभिनय करता है, कोई नाटक करता है, तो वह जैसा दिखलाता है, वह हो नहीं जाता। अवतारवाद के लिये यही कहा गया है। पूछा गया कि भगवान के इतने अवतारों का क्या अर्थ है?

जथा अनेक बेस धरि नृत्य करइ नट कोई ।
सोई सोई भाव देखावई आपुन होइ न सोई ।। ७/७२

अभिनेता मंच पर आया, जो संवाद दिया गया है, उसे दुहराया। सबने मान लिया – वाह वाह, कैसा सुन्दर अभिनय करता है ! पर वह भीतर से जानता है कि लोगों को जो लग रहा है, मैं सचमुच वही थोड़े हूँ। हनुमानजी ने भी ब्राह्मण का वेश बनाकर पहुँच गये और तब संवाद प्रारम्भ हुआ –

विप्र रूप धारि कपि तहँ गयऊ ।
माथ नाइ पूछत अस भयऊ ।। ४/१/६

हनुमानजी ने जाकर भगवान को प्रणाम किया, तो प्रभु ने

व्यंग्य-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखा। होठों पर हँसी थी। अब हनुमानजी और प्रभु के बीच संवाद शुरू हुआ। हनुमानजी ने प्रभु से पूछा – प्रभो, मेरे प्रणाम करने पर आपको हँसी आ गई ! प्रभु ने हनुमानजी की परीक्षा लेने के लिये कहा – मुझे ऐसा लगता तुम नाटक में कुछ सफल नहीं हुये। – क्यों? प्रभु बोले – "मैं क्षत्रिय हूँ। तुम ब्राह्मण के वेश में आये और मुझे प्रणाम कर लिया, तो मैं इसी से समझ गया कि तुम नकली ब्राह्मण हो। ब्राह्मण तो दूसरों से ही प्रणाम लेता है, परन्तु तुमने प्रणाम किया, तो तुम्हारा वेश तो असफल हो गया। पर हनुमानजी ने इसका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया।

प्रभु की हँसी देखकर हनुमानजी समझ गये थे। किसी ने पूछा – ईश्वर को हम कैसे जाने? तो इसका उपाय वही है, जो हनुमानजी ने बताया। बोले – सोई जानइ जेहि देहु जनाई – जिसको वे जना दे, वही उन्हें जान सकता है। हनुमानजी बोले – मैं नहीं जानता, जरा आप ही बताइये – 'को तुम' आप कौन हैं? प्रभु मुस्करा कर बोले – अरे, आप तो बड़े विद्वान् ब्राह्मण दिखते हैं, आप ही बताइये कि मुझे देखकर आपको कैसा लग रहा है? तो हनुमानजी ने कहा – क्षत्रिय रूप धारण करके, वन में घूमनेवाले आप कौन हैं –

को तुम श्यामल गौर सरीरा ।।
छत्री बेस फिरहु बन बीरा ।। ४/१/७

इसका अभिप्राय यह है कि यदि मैं नकली ब्राह्मण हूँ, तो आप भी नकली ही क्षत्रिय हैं। क्योंकि यदि आप मेरे प्रणाम कर लेने से मुझे नकली ब्राह्मण कहते हैं, तो आप भी यदि अपने को क्षत्रिय मानते होते, तो आप ही पहले मुझे प्रणाम कर देते। पर यह कैसी अनोखी बात है ! हम दोनों एक ही श्रेणी के हैं। यदि मैंने ब्राह्मण का वेश बना लिया है, तो आप भी क्षत्रिय का वेश बनाकर वन में विचरण कर रहे हैं।

प्रभु ने देखा कि यह तो बड़ी विलक्षण दृष्टिवाला भक्त है। वे पूछ बैठे – तुम्हें क्या लग रहा है कि मैं कौन हूँ?

जो कहा गया, अब आप जरा उस सूत्र पर ध्यान दीजिये। देखना – अपनी आँखों से देखना – और भलीभाँति देखना। यह दशरथजी ने कहा था, हनुमानजी बोले – मुझे लगता है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश – इन तीनों में से आप कोई दो हैं –

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ ।

प्रभु चुप रहे। हनुमानजी आगे बढ़े। पहले देखा, तो लगा कि तीन में से दो हैं। फिर गौर से देखा तो लगा – नहीं, तीन में से होते, तो तीनों आते, केवल दो क्यों आते? लगता है कि आप नर और नारायण हैं, दोनों आ गये हैं –

नर नारायण की तुम्ह दोऊ । ४/१/९

तो भी प्रभु नहीं बोले। तब और गहराई से देखकर कहने लगे – साक्षात् ब्रह्म ही तो अवतार लेकर नहीं आ गया है –

जग कारन तारन भव
भंजन धरनी भार ।
की तुम्ह अखिल भुवनपति
लीन्ह मनुज अवतार ।। ४/१

प्रभु ने उनकी ओर देखा – पहले तो तुम दो को याद कर रहे थे – तीन में से दो – फिर दो में से दो, और अब इनको भूल गये क्या? हनुमानजी बोले – प्रभो, जब पहले देखा, तो लगा कि तीन में से दो, और भी गहराई से देखा तो दो में से दो, परन्तु बहुत गहराई से देखने पर लगा कि न तो तीन में से दो, न दो में से दो, अपितु एक ही दो रूपों में दिखाई दे रहा है। बस, एक ही दो दिखाई दे रहा है और मुझे तो लगता है कि अवतार हो गया है।

तब वह सूत्र आता है, शब्द बड़ा सांकेतिक है। प्रभु ने जो परिचय दिया, वह तो बिल्कुल उल्टा प्रतीत होता है। हनुमानजी ने पूछा था – **जगकारन** – क्या आप संसार के कारण हैं? तो प्रभु ने कह दिया – संसार का कारण कौन? **कोसलेस दशरथ के जाये** – मैं तो दशरथ का पुत्र हूँ। जब उन्होंने प्रभु से पूछा – क्या आप जगत् के पिता हैं, संसार के स्वामी हैं? तो इस पर प्रभु ने उत्तर दिया – "तुम जगत्पति होने की बात कह रहे हो, मैं तो अयोध्यापति बननेवाला था, वह भी नहीं बन सका। पिताजी ने वन जाने के लिये कह दिया, तो वन में आ गया, कैसा जगत्पति? और ब्राह्मण देवता, ईश्वर तो एक होता है और यहाँ तो तुम देख रहे हो, मेरा नाम 'राम', इनका 'लक्ष्मण', मैं साँवला, ये गोरे और यह भी बता दूँ कि मेरे साथ मेरी प्रिया पत्नी भी थी, वे खो गई हैं। मैं यदि ईश्वर होता, सर्वज्ञ होता, तो क्या मैं वन में भटकता हुआ, सबसे पूछता फिरता? मैं तो एक साधारण राजकुमार हूँ।" उस चौपाई को याद कीजिये – पहले ईश्वर को देखें, अपनी आँखों से देखें, भलीभाँति देखें, और पहचानें। हनुमानजी ने ज्योंही सुना, तो उन्होंने प्रभु को पहचान लिया और उनके चरणों को जोर से पकड़ लिया –

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना ।। ४/२/५

प्रभु हनुमानजी से बोले – "तुम्हारा व्यवहार तो बिल्कुल उल्टा है। जब हम किसी के चरण पकड़कर प्रणाम करते हैं, तो जिसके चरण पकड़कर प्रणाम करते हैं, उसके प्रति मन में विशेष आदर होता है। जब तुमने मुझे ब्रह्म के रूप में देखा, तब तो दूर से ही प्रणाम किया; और जब मैंने एक मनुष्य के रूप में, राजकुमार के रूप में अपना परिचय दिया, तो तुमने मेरे चरण पकड़ लिये। यह उल्टा व्यवहार क्यों?" हनुमानजी ने कहा – "प्रभो, ब्रह्म तो मन-बुद्धि तथा वाणी से परे है, इसलिये उसको तो दूर से ही प्रणाम किया जा सकता है, पर आपने जब यह परिचय दे दिया कि मैं दशरथ का पुत्र हूँ, ये मेरे भाई हैं और मेरी पत्नी भी है, तो मैं समझ गया कि

यह पकड़ में आनेवाला ईश्वर है। ब्रह्म तो पकड़ में आता नहीं, पकड़ में तो अवतार ही आता है।

जब शंकरजी अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान राम की वन्दना करते हैं, तो यह कहते हैं – दशरथ के आँगन में विहरनेवाले श्रीराम मुझ पर कृपा करें –

मंगल भवन अमंगलहारी ।
द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी । १/११२/४

जो सारे ब्रह्माण्ड में विहर रहा है, उसको कहते हैं – दशरथ के आँगन में विहरनेवाले राम। यह प्रभु के लिये बड़ी बात हुई या छोटी बात? अवतारवाद का तत्त्व यही है कि सारे ब्रह्माण्ड में विहरने वाले ईश्वर को हम लोग दशरथ के आँगन में विहरते हुए देखे। वे दसरथ के आँगन में और हमारे-आपके आँगन में खेलने लगें। ईश्वर को हमारे हृदय में, हमारे जीवन में आ जाना चाहिये। ईश्वर के अवतार का अर्थ यही है कि व्यापक ईश्वर हमारे जीवन में अवतरित हो जाता हैं और हमारे आँगन में वह नाचने लगता है। गोस्वामीजी ने जब बालक राम का वर्णन किया, तो कोई बोला – आपने रामायण में भी तो कहा है कि वे दशरथ के आँगन में नाचते हैं। गोस्वामीजी ने कहा – अब जो राम हैं, वे दशरथ के आँगन में नहीं नाचते। – तो कहाँ नाचते हैं? बोले – अयोध्या-नरेश के चारों बालक सर्वदा तुलसीदास के मन-मन्दिर में विहार करते हैं –

अवधेश के बालक चारि सदा
तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं । (कविता. ३)

ब्रह्माण्ड-विहारी ईश्वर को दशरथ के आंगन का विहारी बनायें और फिर उसे हम अपने मन-मन्दिर का विहारी बनायें। इसीलिये हनुमानजी ने प्रभु से बड़ी मीठी बात कह दी। बोले – "पर्वत पर बन्दरों के राजा रहते हैं, वे आपके दास हैं। चलिये, उनसे मित्रता कर लीजिये।"

नाथ सैल पर कपि पति रहई ।
सो सुग्रीव दास तब अहई ।।
तेहि सन नाथ मयत्री कीजै । ४/४/३-४

सुनकर प्रभु को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने मुस्करा कर कहा – "तुम स्वयं ही कह रहे हो कि सुग्रीव दास है और चलकर उनसे मित्रता कीजिये। तो यह बताओ कि दास स्वामी के पास आता है या स्वामी दास के पास जाता है? तुम उसे यहीं क्यों नहीं बुला लाते?" हनुमानजी बोले – "प्रभो, यदि मैं आपके प्रभाव से डर जाता, तो उन्हें बुलाता, पर आपके स्वभाव का जो परिचय मिल गया, तब तो यही लगता है कि जब इतने दूर आप चलकर आ गये, तो जीव को अब क्यों कष्ट दे रहे हैं? अब इतना दूर और आप ही चले चलिये।" – "अच्छा, जब तुम यह कहते हो कि वह दास है, उसको मित्र बना लो, तो दास को दास बनाया जाता है या मित्र बनाया जाता है?" हनुमानजी बोले – "दास को दास बनानेवाले तो संसार में बहुत हैं, पर दास को मित्र बनाना तो आपकी ही महिमा है।"

साथ ही हनुमानजी ने यह भी कह दिया – "मैं आपकी आवश्यकता को पूरी कर दे रहा हूँ।" – क्या? बोले – "जब आपने कहा कि मैं दशरथ का पुत्र हूँ, सीताजी का पति हूँ, लक्ष्मण का भाई हूँ, तो मैं समझ गया। निर्गुण ब्रह्म तो किसी का सम्बन्धी होता नहीं, पर यह ईश्वर जो अवतार ले कर आया है, वह तो अपने सम्बन्धियों के नाम गिना रहा है, तो मुझे लगा कि भक्ति के सम्बन्धों में पाँच में से तीन तो आपको मिल गये हैं – भक्ति के पाँच भावों में वात्सल्य, शृंगार तथा शान्त भाव तो आपको मिल गये हैं, परन्तु दास्य और सख्य भाव – ये दोनों सम्बन्ध बाकी रह गये थे। तो हम आपका काम पूरा किये दे रहे हैं। चलकर सुग्रीव को मित्र बना लीजिये, तो आपको एक मित्र मिल जायेगा।

प्रभु बोले – तुम अपने विषय में क्यों नहीं बोल रहे हो? उन्होंने कहा – मेरा भी काम बन गया। – वह कैसे? बोले – "जब आप दास सुग्रीव को मित्र बना लेंगे, तो दास का पद खाली हो जायेगा। तब वह पद मुझे अपने आप ही मिल जायेगा। इस प्रकार आपको भी पाँचों नाते मिल जायेंगे, पाँचों प्रकार के सम्बन्धी मिल जायेंगे और हम भी आपका सम्बन्ध पाकर धन्य हो जायेंगे। यही अवतार का तत्त्व है। ईश्वर जब हमारा सम्बन्धी बन जाय, जब हमारे जीवन में आ जाय, जब उससे नाता जुड़ जाय, तभी ईश्वर को पाने की सार्थकता है। यही महान् कार्य श्री हनुमानजी द्वारा सम्पन्न किया गया।

❖ (क्रमशः) ❖
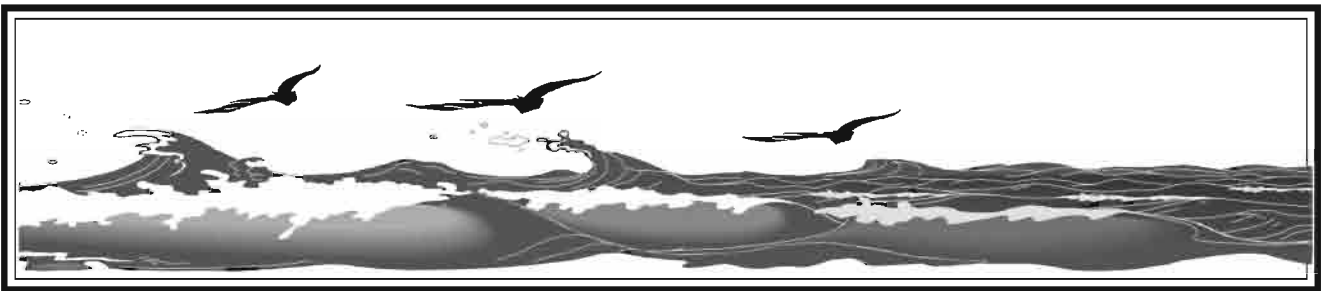
दुराग्रह का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

दुराग्रही कई प्रकार के होते हैं। कुछ लोग शराब पीने के कट्टर विरोधी होते हैं, तो कोई सिगरेट पीने के। कुछ लोग सोचते हैं कि यदि मनुष्य सिगार छोड़ दें, तो संसार में फिर से सत्युग लौट आयेगा। एक ऐसा व्यक्ति हो सकता है, जो लूटपाट करता हो, डाके डालता हो, पर शायद वह सिगरेट नहीं पीता। वह सिगरेट का कट्टर विरोधी बन जाता है और किसी को सिगरेट पीते देखकर केवल इसी कारण से उसकी तीव्र निन्दा करने लगता है। इसी प्रकार कोई दूसरा व्यक्ति दूसरों को ठगता फिरता है; उस पर किसी का विश्वास नहीं; कोई स्त्री उसके साथ सुरक्षित नहीं रह सकती। पर शायद वह दुष्ट शराब नहीं पीता; और इसलिए वह शराब पीनेवालों में कुछ भी अच्छाई नहीं देखता। वह स्वयं जो इतनी दुष्टता करता है, उस पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। कोई हो सकता है शाकाहारी हो, वह मांसाहारियों को घृणा की दृष्टि से देखता है। उसके मत में यदि सब लोग शाकाहारी हो जायँ, तो दुनिया की समस्याएँ निर्मूल हो जाएँगी, पर वह यह नहीं देखता कि शाकाहारी व्यक्तियों में ही कितने वंचक, रक्त चूसनेवाले और झगड़ा करनेवाले व्यक्ति होते हैं। वे मांस नहीं खाते, पर छल-फरेब और लूट-खसोट के माध्यम से मनुष्यों का खून चूसते हैं। यही मनुष्यों की स्वाभाविक स्वार्थपरता और एकांगीपना है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि शराब पीने या मांस खाने की वकालत की जा रही है। यहाँ तो केवल दुराग्रह का स्वरूप स्पष्ट करने हेतु ये उदाहरण दिये गये हैं।

स्वामी विवेकानन्द एक दिन अमेरिका के शिकागो शहर में धर्मकक्षा ले रहे थे। उसमें शिकागो की उन महिलाओं में से एक उपस्थित थी, जिन्होंने मिलकर मजदूरों के व्यायाम तथा संगीत की व्यवस्था करने के लिए एक संस्था बनायी थी। वह युवती संसार में प्रचलित बुराइयों की चर्चा कर रही थी। उसने कहा कि मैं उन्हें दूर करने के उपाय जानती हूँ। स्वामीजी ने पूछा, ''तुम क्या जानती हो?'' उत्तर में उसने पूछा, ''क्या आपने 'हुल-हाउस' देखा है?'' उस महिला की राय में उन लोगों द्वारा गठित यह 'हुल-हाउस' संसार की सभी बुराइयों को दूर करने का एकमात्र उपाय था। स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में यह दुराग्रह है, हठधर्म है। वे एक स्थान पर कहते हैं, ''जब मैं छोटा था तो सोचता था कि दुराग्रह से कार्य में बड़ी प्रेरणा मिलती है, पर ज्यों ज्यों मैं वयस्क होता जा रहा हूँ, मुझे अनुभव होता है कि बात ऐसी नहीं है।''

स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार सौ में नब्बे दुराग्रहियों का या तो यकृत खराब होता है, या वे मन्दाग्नि अथवा किसी अन्य रोग से पीड़ित रहते हैं। वे कहते हैं कि धीरे-धीरे चिकित्सक लोगों को भी ज्ञात हो जायेगा कि दुराग्रह एक प्रकार का रोग है।

स्वामीजी की दृष्टि में दुराग्रहपूर्ण सभी सुधारों से अलग रहना ही बुद्धिमानी है। वे कहते हैं, ''संसार धीरे-धीरे चलता ही जा रहा है, उसे उसी प्रकार चलने दो। तुम्हें इतनी जल्दी क्यों पड़ी है? अच्छी नींद सोओ और स्नायुओं को स्वस्थ मजबूत रखो; उचित प्रकार का भोजन करो और संसार के साथ सहानुभूति रखो।'' दुराग्रही केवल घृणा ही अर्जन करते हैं। क्या मादक-द्रव्य-निषेध के वे दुराग्रही शराब पीनेवालों से प्रेम करते हैं? नहीं, दुराग्रही का दुराग्रह केवल इसलिए होता है कि वह बदले में स्वयं के लिए कुछ पाना चाहता है। ज्योंही संघर्ष समाप्त हुआ, वह लूटने को आगे बढ़ जाता है। दुराग्रह का कारण होता है - अपने विश्वास को तर्क की कसौटी पर न कसना। दूसरे शब्दों में, दुराग्रह के पीछे मनुष्य का अन्धविश्वास होता है। मनुष्य में विश्वास ही नहीं है, युक्तिसंगत विश्वास होना चाहिए। यदि मनुष्य को सभी कुछ मानने और करने पर बाध्य किया जाय, तो उसे पागल हो जाना पड़ेगा। विवेकानन्द एक स्त्री का उदाहरण देते हैं, जिसने उनके पास एक पुस्तक भेजी। उसमें लिखा था कि उसमें लिखी सभी बातों पर उन्हें विश्वास करना चाहिए। पुस्तक में बताया गया था कि आत्मा नामक कोई चीज नहीं है, किन्तु स्वर्ग में देवी-देवता हैं और उनमें से प्रत्येक के सिर में से ज्योति की एक किरण निकल कर स्वर्ग तक पहुँचती है। स्वामीजी कहते हैं कि उस स्त्री की धारणा थी कि उसे दिव्य प्रेरणा मिली है और वह चाहती है कि मैं भी उस पर विश्वास करूँ; और चूँकि मैंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, उसने कहा - 'तुम निश्चय ही बड़े खराब आदमी हो, तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं!'' यही दुराग्रह है। ❑❑❑

भागवत की कथाएँ (१०)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

दाम-बन्धन

माँ यशोदा के रानी होने से क्या होगा? काम के लायक आदमी के न होने पर उन्हें स्वयं ही सारे कार्य निपटाने पड़ते थे। एक दिन सुबह के समय माँ यशोदा दही मथ रहीं थीं। तबी गोपाल ने आकर दही के मटके से लगी हुई मथानी को पकड़ लिया – माँ समझ गयी कि अब वह उन्हें दही मथने नहीं देगा। वे कृष्ण को गोद में लेकर स्तनपान कराने लगीं। थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा कि चूल्हे पर दूध उफन रहा है। कृष्ण को झट-पट गोद से उतारकर वे रसोईघर में दौड़ीं।

इससे बालक को क्रोध आ गया। उन्होंने लोढ़ा उठाकर दही के बर्तन को फोड़ डाला। इसके बाद घर से माखन चुरा कर ले गये और बन्दरों को खिला दिया। रसोईघर में काम निपटाकर लौटने के बाद माँ ने बेटे की करतूत देखी और जो देखा उससे आश्चर्य में पड़ गयीं। वे पुत्र पर क्रोध दिखाती हुई डण्डा लेकर उसे पकड़ने गयीं। बालक भी क्या सहज ही पकड़ में आनेवाला था। जिसे जप-तप करके योगीगण भी नहीं पकड़ पाते, उसके पीछे-पीछे यशोदा दौड़ रहीं हैं।

आखिरकार बालक पकड़ में आ ही गया। ऐसा लग रहा था मानो वह खूब भयभीत हो। गोपाल रोनी-सी सूरत लिये खड़ा रहा। यशोदा मन-ही-मन हँसीं। परन्तु बाहर से क्रोध का दिखावा करती हुई रस्सी से कृष्ण को बाँधने की चेष्टा करने लगीं। घर की सारी रस्सी लायी गयी, तो भी वह दो अंगुल छोटी पड़ गयी। माँ जितनी भी रस्सी लातीं, बालक का शरीर उतना ही बड़ा हो जाता। वे उसे बाँध नहीं सकीं। माँ थक गयी हैं, पसीने से तर-बतर हो उठी हैं – यह देख कर गोपाल का मन पसीज गया। कृपा करके कृष्ण ने स्वयं ही बन्धन को स्वीकार कर लिया। पूरा संसार जिनके वशीभूत है, वे स्वयं भक्त के वश में हैं।[१]

यमलार्जुन-उद्धार

कृष्ण को ऊखल के साथ बाँध दिया गया है। इसके बाद माँ यशोदा पुन: गृह-कार्य में व्यस्त हो गयीं। गोपाल कृष्ण की दृष्टि घर के सामने खड़े अर्जुन के दो पेड़ों पर पड़ी।

श्रीकृष्ण ऊखल को खींचते-खींचते पेड़ों की ओर अग्रसर होने लगे। दो पेड़ों के बीच ओखली फँस गयी। बालक तब भी रुका नहीं। बालक का स्पर्श पाकर दोनों पेड़ चरमरा कर टूट गये और उनके भीतर से दो उज्ज्वल देवमूर्तियाँ बाहर निकल आयीं। वे श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगीं – "हे विश्वरूप ! हम लोग शिव के सेवक हैं, आपके दासों-के-दास हैं। महर्षि नारद की कृपा से हमें आपका दर्शन मिला है। भगवन्, हमारी वाणी आपके गुणगान में, कान आपके गुण सुनने में, मस्तक आपको नमस्कार करने में और दृष्टि साधु-दर्शन में नियमित रूप से लगी रहे।"

परीक्षित ने पूछा – "ये दोनों कौन-कौन देवता थे और किस शाप के कारण उन्हें वृक्ष-योनि मिली थी?" शुकदेव ने उत्तर दिया – "राजन् ! ये नलकूबर और मणिग्रीव थे। ये रुद्र के अनुचर थे, इसलिए गर्व तथा अहंकार में चूर होकर ये लोग किसी को कुछ भी नहीं समझते थे। एक दिन ये मदिरा-पान करके उन्मत्त हो गये और जाकर कैलास पर्वत की मन्दाकिनी नदी में जल-क्रीड़ा कर रहे थे। नारद उसी रास्ते से होकर जा रहे थे। वहाँ दूसरे जो लोग स्नान कर रहे थे, उन सबने नारद के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए वस्त्र धारण कर लिये। परन्तु इन दोनों ने वस्त्र धारण नहीं किये। नारद ने सोचा कि ये दोनों ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त हो गए हैं, इन्हें दण्डित होने की आवश्यकता है। इन्हें जड़ता प्राप्त हो। नारद का शाप पाकर जब दोनों बहुत पश्चात्ताप करने लगे, तब नारद ने कहा – "तुम्हें डरने की जरूरत नहीं है, जड़ होने के बाद भी तुम लोगों की स्मृति लुप्त नहीं होगी। फिर जिस दिन तुम्हें भगवान वासुदेव का सान्निध्य मिलेगा, उस दिन तुम दोनों मुक्त हो जाओगे।"

---

१. एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग ! हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे।। १०/९/१९

नलकूबर और मणिग्रीव ने नारद के अभिशाप से जुड़वाँ अर्जुन वृक्ष होकर जन्म लिया। जुड़वाँ होने के कारण उन्हें यमलार्जुन कहा जाता था। आज श्रीकृष्ण के पावन स्पर्श से उनका शाप-मोचन हो गया।

* * *

एक पर एक अलौकिक घटनाएँ घटती रहीं। परन्तु ईश्वर की ऐसी माया है कि माँ यशोदा थोड़ी देर बाद ही सब कुछ भूल जाती थीं।

गोपाल जब घुटनों के बल चलते, तब माँ यशोदा अपलक नेत्रों से अपने दुलारे पुत्र की ओर निहारती रहती थीं।

ब्रह्मा का मोह-भंग

गोकुल में धीरे-धीरे उत्पात बढ़ने लगे। बड़े-बूढ़ों ने सोच-विचार किया कि गोकुल को छोड़कर वृन्दावन चले जाना चाहिये। वहाँ गौओं को चराने के लिए बड़े सुन्दर चरागाह हैं और पास में ही गोवर्धन नाम का एक सुन्दर पहाड़ भी है। एक शुभ दिन देखकर वे लोग बाल-बच्चों, गाय-बछड़ों, घर के साजो-सामान आदि सब कुछ लेकर वृन्दावन चले गए।

यहाँ भी बालक कृष्ण की कुछ-कुछ अलौकिक लीलाएँ देखने में आयीं। यहाँ भी उन्होंने वत्सासुर, वकासुर और अघासुर का एक-एक कर वध किया। आश्चर्य की बात यह है कि असुरों का वध करने के समय उन सबकी देह से एक-एक ज्योति निकल कर श्रीकृष्ण की देह में समा गयी।

कृष्ण और बलराम वृन्दावन में आनन्दपूर्वक रह रहे थे। श्रीकृष्ण एक दिन अपने सखाओं के साथ वनभोज करने गये थे। जैसे कमल के चारों ओर उसके पत्ते सुशोभित होते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण के चारों ओर मण्डलाकार में सखागण बैठे थे। भोजन का समय हो गया था, सभी भूख से व्याकुल थे। वे लोग घर से लाए हुए भोज्य पदार्थों को आनन्दपूर्वक खाने लगे। उस दिन यमुना-तट पर साक्षात् यज्ञेश्वर (श्रीकृष्ण) को बीच में रखकर गोप-बालकों ने विराट् भोजन-यज्ञ का अनुष्ठान किया। उन लोगों को जो चीज बहुत अच्छी लगती, उसे वे थोड़ा खाने के बाद बाकी एक-दूसरे के, या कभी कृष्ण के मुख में डाल देते हैं। श्रीकृष्ण भी एक साधारण बालक की तरह बड़े आनन्दपूर्वक उस जूठे पदार्थ को खा लेते थे।

ब्रह्मा तथा देवतागण ऊपर से देख रहे थे। ब्रह्मा को शंका हुई – "क्या यह बालक सचमुच ही विष्णु हैं, जिन्होंने पृथ्वी का भार हरने के लिए धरती पर अवतार लिया है! अच्छा, तो परीक्षा करके ही क्यों न देख लिया जाय!" ब्रह्मा बछड़ों को अच्छी-अच्छी खाने योग्य चीजों का लोभ दिखाकर जंगल में दूर तक ले गए। बाद में ग्वाल-बालगण बछड़ों को न देखकर चिन्तित हो उठे। श्रीकृष्ण ने उन लोगों को सांत्वना देते हुए कहा – "मैं ढूँढ़कर देखता हूँ कि बछड़े कहाँ गए। तुम सभी निश्चिन्त होकर भोजन करो।"

श्रीकृष्ण ज्योंही बछड़ों को ढूँढ़ने निकले, त्योंही ब्रह्मा ने ग्वाल-बालों को एक अन्य गुफा में छिपा दिया। श्रीकृष्ण को पर्वत पर कहीं भी बछड़े नहीं मिले। वे यमुना-तट पर लौट आए। पर श्रीदाम, सुदाम आदि ग्वाल-बाल कहाँ गये? वे पूरे वन में ढूँढ़ने निकले, परन्तु वे उन्हें कहीं भी नहीं मिले।

तब श्रीकृष्ण को अपने स्वरूप का स्मरण हो आया। सहसा उनके मन में आया – निश्चय ही यह सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का कारनामा है। तब उन्होंने स्वयं ही पुनः उन बालकों और बछड़ों की सृष्टि कर ली। क्योंकि विष्णु ही तो सब कुछ हैं। उन्होंने जिन गोप-बालकों और बछड़ों की सृष्टि की थी, उन्हें देखकर बालकों की माताओं तथा गौओं के आनन्द की सीमा नहीं रहती। क्योंकि सकल आनन्दों के मूल स्वयं श्रीकृष्ण ही अब गोप-बालक और स्वयं ही बछड़े बने हुए हैं। इसी प्रकार पूरे एक वर्ष तक चलता रहा।

मनुष्य का एक वर्ष ब्रह्मा का एक पल है। इसलिए ब्रह्मा ने एक पल के बाद देखा कि उन्होंने जिन सारे ग्वाल-बालों तथा बछड़ों को जहाँ छिपा रखा था, वे सब वहीं पड़े सो रहे हैं। तो भी ठीक उतने ही बालकों तथा बछड़ों को साथ लेकर श्रीकृष्ण खेल रहे हैं। तो फिर ये सब आए कहाँ से? ब्रह्मा ने बहुत सोच-विचार किया – परन्तु कुछ निष्कर्ष नहीं निकाल सके कि कौन से सत्य हैं और कौन से मिथ्या! श्रीकृष्ण को माया-मोहित करने जाकर ब्रह्मा स्वयं ही माया में विमोहित हो गए हैं। तभी ब्रह्मा की आँखों के समक्ष चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान विष्णु स्वयं आविर्भूत हो गए।

ब्रह्मा का मोह भंग हुआ। वे भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे – "हे प्रभो! आप सत्य, नित्य, अक्षय, अनन्त हैं। आप सनातन पुरुष, स्वप्रकाश, अविच्छिन्न तथा सुखस्वरूप हैं। आप अतुलनीय, सबकी आत्मा, सबके कारण स्वरूप, उपाधिरहित तथा अमृतमय हैं।"[२]

कालिय-दमन

श्रीकृष्ण का अवतार दुष्टों के दमन के लिए हुआ था।

यमुना नदी के थोड़ी दूर पर कालिन्दी में महा विषधर कालिय नामक साँप निवास करता था। उसके विष का ऐसा प्रभाव था कि सरोवर का जल हमेशा खौलता हुआ खदबद की आवाज करता रहता था। चारों किनारों के पेड़-पौधे आदि सूख गए थे। केवल एक कदम्ब का पेड़ ही सूखता नहीं था, क्योंकि अमृत से भरे कलश को ले जाते समय गरुड़

---

२. एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः, सत्यः स्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्र-सुखो निरंजनः, पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥
१०/१४/२३

इसी पेड़ पर बैठे थे। छलक कर उस पर अमृत की कुछ बूँदें गिर पड़ी थीं। बलराम को बिना बताये एक दिन गोपाल इस पेड़ पर चढ़कर सरोवर में कूद पड़े तथा निर्भय होकर उसमें खेलने लगे। कालिय ने पानी से निकलकर बाल-कृष्ण को छाती में डँस लिया तथा उनके पूरे शरीर को लपेट लिया।

गोप-गोपियाँ दौड़े हुए चले आये। सभी 'हाय-हाय' करने लगे। परन्तु बलराम गोपाल की सामर्थ्य को जानते थे। अत: उन्होंने सबको धीरज रखने को कहा। कालिय नाग श्रीकृष्ण को चारों ओर से लपेट-लपेट कर थक गया। तब श्रीकृष्ण कालिय नाग के फणों के ऊपर चढ़कर नाचने लगे। देवतागण उस नृत्य को देखकर फूलों की वर्षा करने लगे। कालिय जब अपने फनों को ऊपर उठाता, तो श्रीकृष्ण अपने चरणों के आघात से उन्हें नीचे कर देते थे। कालिय नाग के अनेक मुख थे। उसके सभी मुखों से तीव्र वेग से खून निकलने लगा। नाग की पत्नियाँ भयभीत होकर दौड़ी आयीं। उन्होंने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा – "प्रभो, आप हमें हमारे पति के प्राणों की भिक्षा दें।" भगवान ने कालिय को छोड़ दिया। कालिय नाग को होश आने पर उसने हाथ जोड़ कर कहा – "प्रभु मुझे क्षमा कीजिए। हम लोगों का स्वभाव ही दुष्टतापूर्ण है।[३] अपने स्वभाव को कोई छोड़ नहीं सकता। यह तो आपकी ही माया है। अब जो आपका विधान हो वही कीजिए।" श्रीकृष्ण बोले – "तुम तत्काल अपनी पत्नियों को साथ लेकर यह स्थान छोड़कर समुद्र में चले जाओ।"

गोवर्धन-गिरि धारण

विराट् उत्सव का आयोजन चल रहा है। गोपियों के साथ राजा नन्द इन्द्रदेव की पूजा करेंगे। श्रीकृष्ण ने यह जानना चाहा कि यह उत्सव क्यों हो रहा है। बालक की जिज्ञासा शान्त करने के लिए राजा नन्द ने कहा – "मेघ सारे मनुष्यों के जीवन की रक्षा तथा फसल आदि के लिए जल वर्षण करता है। और मेघ के देवता इन्द्र हैं, इसी कारण उनकी पूजा की जा रही है।" बालक ने जिद ठान ली – "यह पूजा बन्द करनी होगी। हम लोग ग्वाले हैं; कृषि हम लोगों की आजीविका नहीं है। गो-पालन ही हम लोगों की आजीविका है। यदि पूजा ही करनी है तो हम लोग गो-पूजा करेंगे। इसके साथ ही ब्राह्मणों की, निर्धनों की और पर्वत की पूजा करेंगे, उस पर्वत की जो हम लोगों का कितने तरह से उपकार करता है।" बालक के तर्क को सबने मान लिया।

इन्द्र-यज्ञ के लिए जो चीजें लायी गयी थीं, उनसे ब्राह्मणों ने होम किया। नन्दराजा ने ब्राह्मणों को अनेक उपहार दिये। निर्धनों को भरपेट भोजन कराया। गौ-बछड़ों को खूब खिलाया। नन्दराज तथा गोप-गोपियों ने श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा की।

इससे इन्द्र बहुत क्रोधित हो गए। उन्होंने सोचा कि इन साधारण वनवासी गोप-गोपियों को धन का बड़ा घमण्ड हो गया है। इन लोगों ने मेरा अनादर किया है, उपेक्षा की है। इन्द्र ने मेघ को आदेश दिया – "इन लोगों का घमण्ड चूर-चूर कर दो, जल बरसाकर इनका सब कुछ बहा दो।" आँधी-तूफान के साथ प्रचण्ड वर्षा शुरू हुई। वृन्दावन ध्वस्त होने लगा। तब गोप-गोपियों ने कृष्ण के पास जाकर कहा – "हे गोकुलनाथ! क्रुद्ध देवताओं से आप हमारी रक्षा कीजिए।"

कृष्ण ने अपना स्वरूप धारण किया और कहा – "हाँ, मैं तुम लोगों की रक्षा करूँगा।" बालक जैसे कुकुरमुत्ते की छतरी को अनायास ही उठा लेता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को छाते के समान[४] उठा लिया और सबको उसके नीचे आश्रय लेने को कहा।

नन्दराजा तथा गोप-गोपियों ने पर्वत के नीचे शरण ली। श्रीकृष्ण ने भूख-प्यास की परवाह किये बिना ही एक सप्ताह तक उस गोवर्धन गिरि को अपने बाएँ हाथ पर उठाए रखा। वे वहाँ से एक कदम भी हिले नहीं।

यह देखकर इन्द्र चकित रह गए और श्रीकृष्ण के पास आकर अपने राजमुकुट सहित उन्हें प्रणाम किया। वे बोले – "मैं अपने पद के अहंकार में उन्मत्त था। वर्षा और आँधी-तूफान के द्वारा मैंने ब्रज को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहा था। मुझसे अपराध हुआ है, क्षमा कीजिए। ऐसी दुर्बुद्धि मुझमें दुबारा न हो।" श्रीकृष्ण ने कहा – "हे महेन्द्र, तुम्हारे मंगल के लिए ही यह व्यवस्था हुई है। तुम्हारे ऐश्वर्य के अहंकार को नष्ट करने के लिए ही मैंने तुम्हारे यज्ञ को बन्द कराया है। मैंने जो दण्ड धारण कर रखा है, उसे ऐश्वर्य से उन्मत्त लोग देख नहीं पाते। मैं जिस पर कृपा करना चाहता हूँ, सर्वप्रथम उसकी सम्पदा को नष्ट कर देता हूँ।"

इन्द्र ने ऐरावत हाथी के द्वारा स्वर्ग की आकाशगंगा से जल मँगवाया। उस जल से श्रीकृष्ण का अभिषेक करके इन्द्र ने ही उन्हें गोविन्द के नाम से विभूषित किया।

३. वयं खला सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यव:।
स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रह:॥ १०/१६/५६

४. इत्युक्त्वा एकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालक:॥ १०/२५/१९
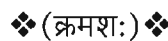
मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(९४) सादा जीवन उच्च विचार

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद १९५० ई. में स्वतंत्र भारत के पहले राष्ट्रपति बने। उनके आवास की व्यवस्था तत्कालीन 'वायसराय भवन' (अब 'राष्ट्रपति भवन') में की गई। वहाँ जाने के पूर्व सम्बन्धित अधिकारी उन्हें भवन दिखाने ले गये। बहुत-से कमरे देख उन्होंने कहा कि जितने जरूरी हों, वे उतने कमरों में ही रहेंगे। अधिकारी उन्हें शयन-कक्ष में ले गये, तो वहाँ का स्प्रिंगदार कीमती शाही पलंग देखकर उन्होंने उसे हटाने को कहा। अधिकारी बोले, "सर, राष्ट्रपति-पद गरिमावाला है और वायसराय के समकक्ष है। आपको अपने पद के अनुरूप इसका उपयोग करना चाहिए।" राजेन्द्रबाबू बोले – "नहीं, मैं वायसराय के पद के अनुरूप नहीं हूँ। यह शाही पलंग मेरे लिए काँटों की सेज होगी। मेरे रहन-सहन के कुछ उसूल हैं, कुछ आचार-विचार हैं। मैं उनके विरुद्ध नहीं जा सकता, वर्ना मेरे आदर्शों को आघात पहुँचेगा। भारत एक कृषिप्रधान देश है। यहाँ का किसान परिश्रमी तो है, पर उसकी अवस्था बड़ी दीन-हीन है। ऐसे देशवासियों का एक प्रतिनिधि ऐशो-आराम में जिन्दगी कैसे बिता सकता है? वैभव के प्रतीक इस पलंग का उपयोग मैं कदापि नहीं कर सकता।" यह उत्तर अधिकारियों के लिए अनपेक्षित था। उन्होंने जान लिया कि ये सादगी-पसन्द हैं। इसके उसूलों के आड़े आना उचित नहीं, अतः दूसरे सादे पलंग की व्यवस्था की।

ऊँचे पद पर पहुँचने पर व्यक्ति में उस पद के दायित्व एवं अधिकार सहज रूप में आ जाते हैं। सादगी-पसन्द व्यक्ति ऊँचा पद पाकर भी अपना रहन-सहन नहीं बदलते।

(९५) स्वावलम्बन की सीख

स्वतंत्रता-आन्दोलन के दौरान दादाभाई नौरोजी और लोकमान्य तिलक में घनिष्ठता बढ़ी। तिलकजी ने वकालत की परीक्षा पास की थी और वे स्वतंत्रता-संग्रामियों की पैरवी करना चाहते थे। पर उनके पास अनुभव की कमी थी, अतः अनुभव प्राप्त करने हेतु उन्होंने दादाभाई से उन्हें अपने साथ रखने की विनती की। दादाभाई ने सहर्ष स्वीकार किया।

एक बार नौरोजी को एक मामले में लंदन जाना था। वे अपने साथ तिलकजी को भी ले गये। वहाँ उन्होंने पास के एक गाँव में रहने हेतु एक कमरा किराये पर लिया। अगले दिन सुबह उठने पर कमरे को साफ-सुथरा पाकर तिलकजी ने सोचा कि कमरे को नौकर साफ करता होगा। मगर उन्होंने जब देखा कि उनके कपड़े धोये गये हैं और जूतों पर दादाभाई पालिश कर रहे हैं, तो उन्होंने फौरन अपने जूते खींचते हुए दादाभाई से कहा, "मैं तो सोच रहा था कि कमरे को नौकर ने साफ किया होगा, पर लगता है कि कपड़े और कमरे को आपने ही साफ किया होगा।" दादाभाई ने कहा, "यहाँ नौकर जल्दी नहीं मिलते। यहाँ के लोग स्वावलम्बी हैं और हमें भी उनसे स्वावलम्बन की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। और आप तो मेरे मित्र हैं, हम दोनों में भेद कैसा? इसीलिये अपने कपड़ों के साथ ही मैंने आपके कपड़े भी धो डाले।" यह सुन तिलकजी को आत्मग्लानि हुई। उन्होंने कहा, "मैं आपसे छोटा हूँ और बड़ा छोटे का काम करे, यह मेरे लिए शर्म की बात है। आपने मुझे स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया, साथ ही परोपकार की भी शिक्षा दी है, जिसका मैं अपने जीवन में पालन करने का प्रयास करूँगा।"

स्वावलम्बन मनुष्य की सबसे अनमोल धरोहर होती है। अपने पैरों पर खड़े रहना या अपने काम स्वयं करना ही स्वावलम्बन है। यह उन्नति तथा प्रगति की कुंजी है। इसके विपरीत परावलम्बी व्यक्ति अकर्मण्य निरुद्यमी तथा आलसी हो जाते हैं और जीवन में कभी सफल नहीं होते।

(९६) क्रिया के साथ भाव भी होना आवश्यक है

एक बार एक जिज्ञासु ने समर्थ रामदास से पूछा, "क्या ऐसी कोई साधना है, जिसके द्वारा परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त हो सके?" समर्थजी ने कहा, "परमेश्वर की भक्ति-भाव से जो भी साधना की जाय, वह उनके पास ले जाती है। कोई भी कार्य करते समय यदि सोचोगे कि उसे भगवान के लिये कर रहे हो, तो वह साधना ही होगी।" जिज्ञासु ने फिर पूछा, "यानी इसमें क्रिया का कोई महत्त्व नहीं।"

समर्थ बोले, "क्रिया का भी महत्त्व है। क्रिया ही तो सृष्टि का सनातन नियम है। पर क्रिया करते समय ध्यान हमेशा लक्ष्य की ओर होना चाहिये। भाव तथा क्रिया के साथ की गई साधना से सिद्धि प्राप्त होती है। लक्ष्य-प्राप्ति हेतु सर्वस्व लगाना ही समर्पण है। समर्पण में आशा-आकांक्षा के लिये कोई स्थान नहीं रहता। मन और बुद्धि जीवन-चक्र को अपनी दिशा में ले जाना चाहते हैं, लक्ष्य स्थिर न होने के कारण जीवन में रोध आ जाता है और प्रगति नहीं हो पाती। भाव, भक्ति और आस्था का क्रिया से जुड़ जाने पर जीवन गतिमान होता है। यही साधना और ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग भी है।"

आत्माराम की आत्मकथा (५१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। हम इसका क्रमशः प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

ढाका में हर शुक्रवार और हर रविवार को आश्रम में और बाहर एक-एक कक्षा होती थी। शुक्रवार को श्री उमेश चन्द्र दत्त महाशय के घर भागवत पाठ होता। अनेक वर्षों से ऐसा नियमित रूप से हो रहा था। वहाँ जाने के बाद मैंने उसे यथावत् चालू रखा। इसीलिये राहत-कार्य में व्यस्त रहते हुए भी शुक्रवार को आश्रम में रहता और संध्या के समय उनके यहाँ पाठ के लिए जाता। एक मजबूत लड़का मिशन से सहायता लेकर पढ़ाई करता था। उसका काम था शुक्रवार को गाड़ी लाकर मुझे ले जाना और फिर आश्रम में वापस पहुँचा जाना। एक बुधवार को अपराह्न में उमेश बाबू आश्रम में आये। उन्होंने बताया कि बृहस्पतिवार को उन्हें दूर के एक गाँव में जाना है, शुक्रवार को नहीं भी लौट सकते हैं, क्योंकि नालों में पानी कम होने के कारण और जलकुम्भी की बेलों से नाले भर जाने के कारण उनमें नावों का चलना बड़ा कठिन था। एक घण्टे का मार्ग तय करने में तीन-चार घण्टे लग जाते थे, इसीलिए उन्होंने मुझसे पूछा – "शुक्रवार को निश्चित रूप से आ रहे हैं न?" उस समय मैं विशेष कुछ लिखने के कार्य में व्यस्त था, बिना सोचे बोल दिया – "हाँ, हाँ, आ जाऊँगा।" थोड़ी देर इधर-उधर घूमकर आने के बाद उन्होंने फिर पूछा – "महाराज, शुक्रवार को आना निश्चित है न?" मैंने भी उत्तर दिया – "हाँ, हाँ, जरूर आ जाऊँगा।" शुक्रवार के सुबह राहत-सामग्री बाँटकर लौटा। आकाश स्वच्छ था, पर शाम को करीब छह बजे भीषण झंझावात के साथ वर्षा हुई। बड़े-बड़े पेड़ उखड़ गये और सड़क जाम हो गये। घण्टे भर में ही प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया।

वर्षा में भीगते हुए वह विद्यार्थी आ पहुँचा और बोला – "रास्ते में घुटनों तक पानी है और बड़े-बड़े पेड़ों के गिरने के कारण सड़क बन्द हो गयी है। मनुष्य का ही जाना कठिन है; गाड़ी तो जा ही नहीं सकती। अब आप क्या करेंगे?" मैं बड़ी चिन्ता में पड़ गया, बोला – "सो तो है, लेकिन दो-दो बार कहा था कि आऊँगा।" आश्रम के सभी लोग मना करने लगे – "ऐसी परिस्थिति में मत जाइये, वे लोग भी कोई आपके आने की अपेक्षा नहीं करेंगे।" परन्तु मन में छटपटाहट होने लगी, मानो बिल्ली नोंच रही हो। लड़के से कहा – "गाड़ीवाले से पूछकर देख।" गाड़ीवाला मुसलमान था, आश्रम के सामने ही रहता था और वही मुझे ले जाता था। उसने कहा – "जाना असम्भव है, आप ही बताइये कि कैसे ले जाऊँगा?" मैंने फिर भेजा – "जाकर कह कि चाहे जैसे भी ले जाये, तो मैं उसे ईनाम दूँगा।"

उस समय तीन अन्य गाड़ीवाले वहीं बैठकर आपस में बातें कर रहे थे। उन्होंने कहा – "ले जा सकते हैं, लेकिन कुल्हाड़ी से पेड़ काटकर रास्ता बनाना पड़ेगा। घोड़े को पकड़कर गाड़ी को धक्के मारकर चलाना पड़ेगा। पानी में घोड़ा नहीं चलेगा और रास्ते में गड्डे आदि भी हो सकते हैं, इसीलिए यदि दस रुपये दें, तो हम चारों मिलकर ले जा सकते हैं। मैंने कहा – "जाकर कह दो, वही दूँगा।" मन में बड़ी अशान्ति हो रही थी, दो-दो बार कहा था कि 'आऊँगा'।

फिर चार बलिष्ठ मुसलमान कुल्हाड़ी से पेड़ों को काटते हुए घोड़े को पकड़कर शहर तक ले गये। आगे ज्यादा कष्ट नहीं हुआ, मिशन के पास ही बहुत कष्ट हुआ था। वर्षा थोड़ी -थोड़ी हो रही थी और हम जैसे ही उमेश बाबू के घर के पास पहुँचे, मूसलाधार से वर्षा शुरू हो गई। जाकर देखा – उमेश बाबू हाथ में लालटेन लिये दरवाजा खोलकर प्रतीक्षा में खड़े थे। वे स्वयं तो भीगे ही थे, कमरे में भी पानी आ गया था। गाड़ी देखते ही – "महाराज आ गये। मुझे मालूम था, आप अवश्य आयेंगे। दो-दो बार कहा था, साधु पुरुष हैं। घर में सभी कह रहे थे कि इस भयंकर मौसम में क्या कोई आ सकता है? मैंने उनसे कहा – 'साधु पुरुष ने दो बार कहा है – आयेंगे, तो जरूर आयेंगे, चाहे जितनी भी असुविधा तथा कष्ट क्यों न हो।' आँधी-तूफान के कारण बिजली बन्द हो गई है, इसलिए लालटेन लेकर खड़ा हूँ, क्योंकि दरवाजा बन्द करके अन्दर रहने से कुछ सुनाई नहीं देगा। आइये, अन्दर आइये।" गाड़ीवालों ने आने-जाने के लिए भाड़ा लिया था, इसलिए वर्षा में भी बैठे रहे। लड़के ने कहा – "यह तो हुआ, महाराज आये, लेकिन जानते हैं, गाड़ीवालों को कितना देने को कहा है? – "कितना?" – "दस रुपये।" उमेश बाबू ने कहा – "केवल दस रुपये ! आज उनकी एक बात के लिये मैं सौ रुपये देने को तैयार हूँ। दस तो कुछ भी नहीं है।" (गाड़ी का किराया साधारणतः आठ या दस आने लगता था)। मैं निश्चिन्त हुआ, ठाकुर ने मेरी रक्षा की। यदि मैं नहीं आता, तो इन सज्जन भक्त के मन को बहुत चोट लगती। जय माँ, जय ठाकुर !

ढाका आश्रम के स्कूल में वार्षिक शुल्क एक रुपया कर दिया, जिससे स्कूल की वार्षिक आय चार सौ रुपये होने लगी। उत्सव के उपलक्ष्य में मैमनसिंह, टांगाइल, नारायणगंज, कलया आदि स्थानों में गया। टांगाइल में सभा आरम्भ होने के ठीक पहले ओले पड़े, जिससे काफी नुकसान हुआ। मैं जहाँ पर आश्रम के कार्यकर्ताओं के साथ खड़ा था, उसी के सामने दो फीट के फुटबाल जैसा बड़ा बर्फ का एक गोला गिरा – इतना बड़ा गोला इसके पहले कभी देखा नहीं था। लड़के लोग उसे उठाकर ले आये। अद्भुत था !

मेरे निर्देशानुसार (सिलहट वाले) सुबोध बाबू को वहाँ से हेड-मास्टर के रूप में ले आये और आश्रम का भार भी उन्हीं को दे दिया। निश्चिन्त। ढाका में (तालाबों से) जलकुम्भी की सफाई करने के लिए सामूहिक आह्वान पर मैं कॉलेज के छात्रों के साथ गया और जो अंश मिला, उसे सारे दिन परिश्रम करके साफ तथा सुन्दर कर दिया था। मैजिस्ट्रेट के साथ राहत-कार्य के बारे में बहस हो गई – जिनके पास है, वे उन्हीं को सहायता दे रहे थे, इसलिए मैंने सभा में आपत्ति जतायी। इस कारण मुझे दुबारा सभा में नहीं बुलाया। हमारे संघ के एक भाई के मामा, मैजिस्ट्रेट के पक्ष में बोलने लगे, तो उनको मैजिस्ट्रेट के सामने ही डाँटकर बैठा दिया।

आश्रम की चहारदीवारी बनवाकर पड़ोसियों के साथ होने वाली नित्य की कलह बन्द करवायी। चिकित्सालय के लिये दान में कुछ रुपये मिलने पर उसका नया भवन बनवा दिया। वर्षा समाप्त होने पर निमंत्रण पाकर पुन: सिलहट गया।

सिलहट, गौहाटी, करीमगंज, हाफलांग (१९४०)

सिलहट – १९४० ई.। स्वामी सौम्यानन्द के साथ इस बार फिर असम के अनेक स्थानों में भाषण आदि देने गया। काफी आनन्द मिला था। इस बार गौहाटी में तीन भाषण हुए – पहला कॉलेज में, दूसरा एक हरिसभा में और तीसरा अन्यत्र कहीं हुआ था। कॉलेज में बँगला भाषा में बोलने के कारण कुछ असमी छात्र उठकर चले गये। तब तक बंगाली-विद्वेष प्रबल हो उठा था। वैसे अधिकांश असमी छात्रों ने धैर्य के साथ सुना था। छात्रसंघ के सचिव असमी थे और उन्होंने ही आग्रहपूर्वक भाषण देने के लिये निमंत्रित किया था। हरिसभा पण्डित शशधर चूड़ामणि के शिष्यों की थी। सर्वदा स्वामीजी के विरुद्ध बोलनेवाले उनके एक पण्डित शिष्य भी उपस्थित थे। उन्होंने बड़ी प्रशंसा की तथा और भी कुछ व्याख्यान देने के लिए अनुरोध करने लगे। परन्तु समयाभाव के कारण वैसा सम्भव नहीं हो सका था।

हाफलाँग में

उस बार मेरी गर्मी 'हाफलाँग' में बीती। कई जगह घूमते हुए करीमगंज होकर हाफलाँग पहुँचा। दो महीने के लिए अनुमति मिली थी। वहाँ के ठेकेदार तथा व्यवसायी देवेन बाबू ने मेरे लिये एक कमरे की व्यवस्था कर दी थी। सोचा था कि स्वयं पकाकर खाऊँगा, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं करने दिया। बड़े सज्जन थे और उनकी स्त्री मातृ-स्वरूपा थीं। बाद में वे मठ में दीक्षित हुए। हाफलाँग में रहते समय कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई। उनमें से दो प्रमुख इस प्रकार हैं –

(१) वहाँ हिन्दुओं का जगन्नाथ-भवन बिना देखभाल के और अव्यवस्थित पड़ा था। कलेक्टर ने एक सभा बुलाई, जिसमें प्रधानत: मुझे ही बोलना पड़ा। मैंने विशेषकर देवेन बाबू तथा उनके बड़े भाई की ओर इंगित करके उनसे ऐसी चेष्टा करने को कहा जिससे उसे साफ-सुथरा रखा जाय और एक कमरा बनवाया जाये, जिसमें साधु-संन्यासी या अतिथि आकर रह सकें। कलेक्टर ने सहायता देने की हामी भरी और बाद में वैसा ही हुआ था।

(२) अंग्रेजों ने नागाओं को रोकने के लिए हाफलाँग से करीब तीन मील दूर खासियों का एक सुन्दर छोटा-सा गाँव बसाया था। उन लोगों ने एक पूरे पहाड़ पर नारंगी के पेड़ और पान तथा अनन्नास के पौधे लगा रखे थे। उनमें काफी फल होने के कारण वे लोग धनाढ्य हो गये थे। उस समय नारंगी के पेड़ों पर फूल आये हुए थे। जिधर भी देखो, पेड़ फूलों से भरे थे, पत्ते नहीं थे। कलेक्टर ने मुझसे उसका सौन्दर्य देख आने को कहा और हाफलाँग के डाक्टर को मेरे साथ जाने को कह दिया। उनका भी उस दिन वहाँ जाने का दिन था। खासी लोग सब ईसाई हो गये थे। एक छोटा-सा चर्च था। सब कुछ अच्छा व्यवस्थित था।

पहले मुखिया के घर गये – उन्होंने हमारे साथ घूम-फिरकर सब दिखाया। बड़े सज्जन व्यक्ति थे। आखिर में चाय और मधुर अनन्नास खिलाया। अनन्नास छोटा था और उसके अँखुए तथा छिलका उतारने के लिये ही आधे से अधिक भाग फेंकना पड़ा।

मैंने कहा – "एक तरह का अनन्नास है (शायद सिंगापुरी), जो काफी बड़ा होता है, Eyeless कहते हैं, उसमें अँखुए बहुत कम होते हैं। आप लोग वैसा लगाकर देख सकते हैं। लाभ अधिक होगा।

उन लोगों ने आश्चर्यचकित होकर कहा – "हमने तो ऐसा सुना नहीं, कहाँ मिलता है?"

कोलकाता में पता लगाने को कहा और पूना के पोचा एंड कंपनी का पता भी दे दिया। फिर उनको मौसम्बी (mozambique) की बात बताई – वह नांरगी की तरह ही होती है, परन्तु अधिक पौष्टिक होती है और उसमें रस भी अधिक होता है। मुम्बई की तरफ रोगियों को इसी का रस देते हैं। थोड़ा शहद के साथ देने से और भी अच्छा होता है।

उन्होंने कहा – नाम तो नहीं सुना। मैंने उस पोचा कंपनी को पत्र लिखकर वहाँ से दो-चार पौधे मँगवाकर प्रयोग करने को कहा। ढाई-तीन वर्षों में फल देने लगते हैं। उसे भी लिख लिया। इसके बाद चीकू (या सफेदा) की बात बताई। मगर अधिक वर्षा होने से उसके फल पेड़ पर नहीं टिकते। इसलिए फलों के पुष्ट होने पर उन्हें तोड़कर फूस आदि में रखकर पकाना पड़ता है। यह भी दो-तीन वर्ष में फल देता है। इस प्रकार बहुत-सी बातें हुईं।

लौटते समय कहने लगे कि सन्तरे इस समय नहीं हैं, इसलिये आप लोगों की खातिरदारी नहीं कर सका।

हे भगवान! तीसरे दिन कलेक्टर के यहाँ से बुलावा आ गया। मिलने गया।

उन्होंने पूछा – "आपने खासिया लोगों को क्या कहा?"

मैं – "क्यों? ऐसी कोई खास बात तो नहीं हुई। अमुक -अमुक विषयों पर बातें हुई थीं, डॉक्टर भी उपस्थित थे।"

कलेक्टर – "ऐसा है! वहाँ खेती-बाड़ी के जो सरकारी निर्देशक-सलाहकार थे, विशेषकर सन्तरे की खेती के विशेषज्ञ थे, उन्हें उन लोगों ने उसी रात भगा दिया। वे अपने परिवार के साथ उस जंगल के मार्ग से हेड-हंटर नागाओं के गाँव के पास से होकर लौट आने को बाध्य हुए।" (उन्होंने हमको नागाओं के गाँव में जाने की अनुमति नहीं दी थी और ऊपर से आदेश था कि उनके साथ मिलने न जा सकूँ और वार्तालाप आदि भी करने की अनुमति नहीं थी।)

मैंने कहा – "नहीं, ऐसी कोई बात नहीं हुई। मुझे तो यह भी नहीं पता था कि वहाँ ऐसा कोई अधिकारी भी है।"

गाँव का मुखिया और कुछ पंच भी कलेक्टर के घर में उपस्थित थे। उन्होंने डॉक्टर को बुलवाकर सबके सामने ही उनसे पूछताछ की गयी। उन्होंने बताया कि यह कार्य उन लोगों ने अपनी बुद्धि से ही किया है। उनके प्रधान ने कहा – "कुछ वर्ष हुए ये अधिकारी वहाँ आये हैं। वे दो सौ रुपये मासिक वेतन, रहने के लिए मकान, फल, मुर्गी, सूअर आदि कितना सब पाते हैं। परन्तु वे जो कुछ जानते हैं, वह सब हम भी जानते हैं, नया कोई ज्ञान उनके पास नहीं है। ऐसी कोई बात, जिससे हम विशेष रूप से उपकृत हो सकें, आज तक उन्होंने नहीं बतलाई। दूसरी ओर इन स्वामीजी ने, हिन्दू संन्यासी होते हुए भी, उस एक घंटे में ही हमको जो कुछ बताया है, वह उनसे पूछने पर वे कुछ नहीं बता सके। इसीलिए उन्हें वहाँ से विदा कर दिया गया है। हम लोग इनके (मेरे) द्वारा विशेष रूप से उपकृत हुए हैं।"

वैसे उसी रात उन सज्जन को इस प्रकार निकालना ठीक नहीं हुआ, परन्तु वे पहाड़ी लोग हैं और इन सब बातों पर ध्यान नहीं देते हैं।

इसके बाद वे लोग जब कभी बाजार करने आते, तो मेरे लिए कुछ-न-कुछ फल आदि लेकर आते। मना करने पर भी नहीं सुनते। एक दिन प्रधान ने कहा – "पहले हम सभी लोग हिन्दू थे, लेकिन हिन्दू हमें दूर-दूर रखते थे, थोड़ी घृणा की दृष्टि से भी देखते थे, इसीलिए हम ईसाई हो गये हैं।"

बात सच है, हिन्दुओं के दोष से ही वे ईसाई हुए हैं। हिन्दुओं को अब भी सावधान होने की जरूरत है, क्योंकि इसी प्रकार हिन्दू समाज का सर्वनाश हो रहा है और होगा। इसी प्रकार हिन्दू समाज दुर्बल हुआ है और होगा। यह अवैदिक आचरण हमें छोड़ देना चाहिए।

हाफलाँग में और भी एक महत्त्वपूर्ण घटना से जुड़ा, जो नागाओं से सम्बन्धित है। नागा लोग झूम (या जूम) की पद्धति से खेतीबाड़ी करते हैं। इसमें जंगल के बड़े-बड़े पेड़ों को काट देते हैं और उसे जलाने के बाद उसी भूमि में खेती करते हैं। एक स्थान पर तीन वर्ष खेती करने के बाद उसे छोड़कर दूसरी जगह जाते हैं और इसी प्रकार जंगल काटकर तीन वर्ष तक खेती करते हैं। इसके बाद वे फिर पहले वाले खेत में ऐसा ही करते हैं। इसी प्रकार वे आदिम युग से खेती करते चले आ रहे हैं। वे लोग जंगल के बड़े-बड़े पेड़ काट डालते थे, इसीलिए सरकारी आदेश हुआ कि झूम-खेती नहीं करने देंगे। नागा लोग सीधे गवर्नर के अधीन थे। नागाओं की वह धार्मिक बात थी। उनकी धारणा थी कि इससे 'देवता रुष्ट हो जायेंगे और हम लोग मारे जायेंगे'। सरकार का कठोर आदेश था – झूम बन्द करना ही होगा।

कुछ नागा सरदार मेरे पास आया करते थे। उनके साथ विशेष कोई बातचीत करना सम्भव नहीं हो पाता था। वे लोग थोड़ी-बहुत हिन्दी समझते थे, जो उन्होंने रेलवे मजदूरों से सीखी थी। आश्चर्य की बात यह है कि बंगालियों से पुराना परिचय होते हुए भी उन लोगों ने बँगला नहीं सीखी। जब रेल लाइन बनी, तो बिहार तथा उत्तरप्रदेश के मजदूरों से उन लोगों ने थोड़ी हिन्दी सीखी है। उसी टूटी-फूटी हिन्दी में मेरे साथ बातचीत होती थी। पुलिस की कड़ी नजर थी। वे लोग कभी-कभी तो मेरे कमरे के दरवाजे के निकट से देखते और बातें सुनने की कोशिश करते। ये लोग रानी गुइरण्डा के अनुयायी थे, शायद इसीलिए पुलिस इन पर विश्वास नहीं करती और हाफलाँग के कोई हजार-पन्द्रह सौ नागाओं को एक खुली जगह में रोक कर रखा गया था। वर्षाकाल के दौरान रोग से उनमें से कुछ लोगों की मृत्यु हो गई थी। इसलिए नागाओं के मन में प्रचण्ड आक्रोश था, तथापि भय के कारण वे लोग कुछ कर नहीं पा रहे थे।

कलेक्टर को बताने पर मेरे दरवाजे से पुलिस हटा ली गयी। उस झूम-खेती के बारे में कलेक्टर ने मेरी सहायता माँगी। कहा – "सरकारी हुक्म है, यदि वे झूम करने का

प्रयास करें, तो गोली चलवाने को भी बाध्य हो सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि आपके पास पाँच सरदार आते हैं, आप उन्हें समझाइये। वैसा करने से मना करिये, उससे बहुत हानि होती है। ये लोग कितने बहुमूल्य पेड़ काटकर कितनी हानि करते हैं! पूरा जंगल साफ कर दिया है।''

मैंने कहा – ''वे लोग मेरे पास आते जरूर हैं, लेकिन मेरी आज्ञा के अधीन नहीं हैं। उनके हित की ओर ध्यान दिलाकर मैं आपकी बात उन्हें कहकर देख सकता हूँ।''

बाजार के दिन मेरे पास आने पर मैंने उन लोगों से कहा – ''देखो, तुम्हें मालूम है न, कि सरकार अब झूम करके खेती नहीं करने देगी?''

सरदार – ''हाँ, लेकिन उसके सिवाय हम खेती कर ही नहीं सकते। देवता रुष्ट हो जायेंगे। हमेशा हम इसी प्रकार खेती करते आये हैं, यह आदेश हम नहीं मान सकते। जो होगा, सो देखा जायेगा।''

मैंने कहा – ''देखो, वे नीचे (मैदानी अंचल) के लोग हजारों वर्षों से एक ही जमीन में खेती करते आये हैं, उनके देवता तो रुष्ट नहीं होते। यदि अपनी आँखों से देखना चाहते हो, तो उसकी भी व्यवस्था कर सकता हूँ। उनके देवता और तुम्हारे देवता कोई अलग-अलग तो हैं नहीं। यह तो केवल तुम्हारी अपनी मान्यता है। और देखो, बेकार ही कुछ लोगों के प्राण चले जायँ, यह भी ठीक नहीं होगा – थोड़ा विचार करके देखो। उसके बाद मुझे बताना और मैं सरकार को समझाकर कहूँगा।''

वे लोग सोचते हुए चले गये। कुछ दिनों बाद तीन सरदार आये। बाकी दो सरदार पुरानी प्रथा छोड़ने के लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं थे।

एक नागा सरदार ने कहा – ''आप कहते हैं कि एक ही जगह खेती करने से देवता रुष्ट नहीं होंगे।''

मैं – ''हाँ, कदापि रुष्ट नहीं हो सकते।''

नागा – ''आप इसके लिए उत्तरदायित्व ले रहे हैं?''

मैं – ''हाँ, पूरा उत्तरदायित्व मेरा है। यदि इससे कोई पाप होता हो, तो वह मेरा होगा।''

वे लोग आँख फाड़कर मेरी तरफ देखते रह गये।

नागा – ''लेकिन अन्य नागा लोग पुराने खेतों में खेती करने नहीं देंगे, बाधा डालेंगे, सिंचाई नहीं करने देंगे, फसल नष्ट कर देंगे।

मैंने कहा – ''मैं कलेक्टर से कहकर सरकार द्वारा तुम लोगों की रक्षा की व्यवस्था करने को कहूँगा। तुम दो दिन बाद फिर आना, तब मैं तुम्हें बताऊँगा कि क्या बातचीत हुई। अगले दिन मैंने कलेक्टर से कहा कि एक फसल होने तक पुलिस की सुरक्षा देनी पड़ेगी, देखना पड़ेगा कि वे झरने से खेतों में पानी ले पा रहे हैं और उन्हें व्यक्तिगत रूप से कोई परेशानी नहीं हो रही है। आप यदि इस पर राजी हों, तो मैं आगे बात कर सकता हूँ।''

कलेक्टर ने कहा कि वे गवर्नर को लिखेंगे और उत्तर आने से मुझे बतायेंगे। मैंने नागाओं को वैसा ही बता दिया। एक सप्ताह के अन्दर उत्तर आया। गवर्नर ने सब शर्तें मान लीं और कोई जोर-जुल्म नहीं करना पड़ा।

इसके बाद निमंत्रण पाकर सिलचर चला गया। बाद में सूचना मिली थी कि नागाओं को अच्छी फसल मिली थी और गोली चलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं हुई थी।

बिहार, वाराणसी, दिल्ली, गुजरात और फिर आबू

सिलचर से करीमगंज होकर, कई जगह भाषण आदि देने के बाद सिलहट गया। वहाँ से कोलकाता लौटा। उसके उपरान्त गर्मी के मौसम में कर्सियांग गया। वहाँ से लौटने के बाद कटिहार के महन्त के आग्रह पर वहाँ गया। महायुद्ध उसी समय आरम्भ हुआ था। बिहार में तोड़फोड़ चल रही थी, लोग शान्ति-अहिंसा का पथ अपनाने को राजी न थे। वहाँ से उत्सव के उपलक्ष्य में रायगंज (पूर्णिया) गया। एक महीने से कुछ अधिक काल तक वहाँ रहने के बाद साहबगंज होते हुए बनारस के लिये रवाना हुआ। गाड़ी में एक अंग्रेज सैनिक ने अपमान किया, बाध्य होकर सहन किया। काशी में कुछ दिन रहकर दिल्ली होते हुए पुनः गुजरात-काठियावाड़ लौटा। वहाँ से कुछ दिनों के लिए राजकोट, अहमदाबाद, पालनपुर और डीसा गया। गर्मियों में एक बार फिर माउंट आबू की चम्पा गुफा में ठहरा। स्वामीजी इस गुफा में कुछ दिनों के लिए आकर रहे थे, इसीलिए वह मुझे बड़ा प्रिय लगता था।

❖ (समाप्त) ❖

(लगभग १९४० ई. तक की 'आत्मकथा' यहीं समाप्त होती है। स्वामी जपानन्दजी ने एक अन्य डायरी में १९६५-६६ के दौरान अपने जीवन के कुछ चुने हुए संस्मरणों को एक बार फिर बँगला भाषा में लिपिबद्ध था। उनमें कुछ पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ हैं और कुछ बिल्कुक नयी तथा अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ अलग प्रकार से लिखी गयी हैं, अतः पुनरुक्त होने पर भी पढ़ने में रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। अगले – जुलाई अंक से हम उन्हीं का हिन्दी अनुवाद 'आत्माराम के संस्मरण' शीर्षक के साथ यथासम्भव कालक्रम के अनुसार धारावाहिक रूप से प्रकाशित करेंगे। – सं.)

❑❑❑

नारदीय भक्ति-सूत्र (२४)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

अभिमान-दम्भादिकं त्याज्यम् ।।६४।।

अन्वयार्थ – **अभिमान** – अहंकार, **दम्भ-आदिकम्** – पाखण्ड आदि को, **त्याज्यम्** – त्याग देना चाहिये।

अर्थ – अहंकार, दम्भ (पाखण्ड) तथा अन्य दुर्गुणों को त्याग देना चाहिये।

भक्त को अभिमान, दम्भ तथा अन्य दुर्गुणों को त्याग देना चाहिये। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "अभिमान और अहंकार का त्याग करना चाहिए।"[१] और "अहंकार के लेशमात्र रहते कोई ईश्वर को पा नहीं सकता।" सभी आचार्यों के समान श्रीरामकृष्ण भी कहते थे कि भगवद्भक्त में विनम्रता का होना आवश्यक है। भक्त को विनयशील और शालीन होना चाहिये, उसमें अभिमान और अहंकार नहीं होना चाहिये। इस ढंग से ईश्वर की ओर बढ़ने से रोकनेवाली हर चीज छोड़ देनी होगी। यहाँ यही अभिप्राय है।

कोई व्यक्ति प्रयोग द्वारा यह निर्णय कर सकता है कि उसे किन-किन चीजों से दूर रहना चाहिये। उदाहरण के लिये, व्यक्ति को सत्यनिष्ठ रहना है। समाज में यह एक आदर्श आचरण मात्र नहीं है। अकेले रहते समय भी हम स्वयं से झूठ या कपट करते हैं। अकेले में भी हमें दूसरों के प्रति नहीं, बल्कि अपने प्रति सत्यनिष्ठ रहना है। यह एक ऐसा सद्गुण है, जिसका आचरण परिस्थिति-निरपेक्ष भाव से करना है। व्यक्ति जहाँ कहीं भी हो, समाज में उसकी चाहे जो भी स्थिति हो, चाहे वह संन्यासी हो या गृहस्थ, यह सत्यनिष्ठा हर व्यक्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। दूसरों को धोखा देने का प्रयत्न करने से; हम जैसे नहीं हैं, लोगों के समक्ष वैसा दिखावा या दम्भ करने के प्रयास से काम नहीं बनेगा। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि हमारे मन (सोच) और वाणी में एकरूपता होनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि हम अपने मन में जो कुछ सोचते हैं, उसे वाणी द्वारा गलत ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जाना चाहिये।

तो क्या हम लोगों के प्रति कटु वाणी का प्रयोग करें? क्या हम दूसरों के सम्मुख अशिष्ट बन जायँ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। परन्तु हम मिथ्याचारी न हों। अपने आचरण में मिथ्याचारी न बनकर, हमें स्वयं के प्रति सत्यनिष्ठ रहना होगा। यहाँ इन विचारों की विशद व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति को स्वयं ही इस पर विचार करके समझ लेना होगा। व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन के लिये जो आचरण हानिकारक हैं, उनका त्याग कर देना चाहिये। परन्तु यह इसका नकारात्मक पक्ष है। इसका सकारात्मक पक्ष क्या है? यह अगले सूत्र में बताया जा रहा है।

तदर्पिताखिलाचारः सन् – काम-क्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।।६५।।

अन्वयार्थ – **तद्-अर्पित-अखिल-आचारः** – सभी कर्मों को उन (ईश्वर) को समर्पित, **सन्** – करके, **काम-क्रोध-अभिमान-आदिकम्** – काम, क्रोध, अभिमान आदि, **तस्मिन्-एव** – उन्हीं के प्रति, **करणीयम्** – करना चाहिये।

अर्थ – भक्त को अपने सभी कर्म ईश्वर को समर्पित करना चाहिये और काम-क्रोध-अभिमान आदि केवल ईश्वर के प्रति ही करना चाहिये।

भक्त को अपने सभी कर्म ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिये। काम, क्रोध, अंहकार आदि, जो समान्यतया त्याग करने योग्य हैं, इनका केवल ईश्वर के प्रति उपयोग करना चाहिये। यदि हम किसी व्यक्ति से मिलने की इच्छा रखते हैं, तो उसे ईश्वर से मिलन में रूपान्तरित कर देना चाहिये। यदि हम किसी के प्रति क्रोध करते हैं, तो हमें इस बात के लिये स्वयं के प्रति करना चाहिये कि हम उस परम भक्ति की प्राप्ति के लिये अपने प्रयत्नों में शिथिल क्यों हैं ! यदि हममें अभिमान है, तो हमें परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध के लिये अभिमान करना चाहिये।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – यदि तुम्हें अभिमान करना है, तो इस प्रकार का अभिमान करो – "मैं ईश्वर का भक्त हूँ,

१. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ७३२
२. वही, पृ. ७२४
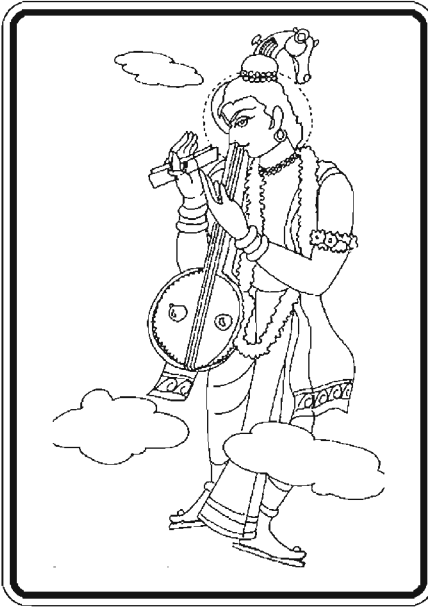
उनका दास हूँ, उनका अंश हूँ।''[३] इस प्रकार का अभिमान हानिकारक नहीं, अपितु सहायक होगा।

अत: इन विकारों को किसी उच्चतर गुण में परिणत कर लेना चाहिये। काम, क्रोध, अहंकार आदि व्यक्ति को ईश्वर से दूर ले जाते हैं। यदि इन विकारों को ईश्वर के साथ जोड़ दिया जाय, तो वे उन्नति में सहायक होंगे। तब वे बाधक नहीं रह जायेंगे, बल्कि व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति में सहायता ही करेंगे। अत: श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि व्यक्ति इन विकारों को ईश्वर की तरफ मोड़ दे। व्यक्ति को उन्हें वह नई दिशा प्रदान करनी चाहिये। तब ये विकार व्यक्ति को सही पथ से भटकाने की जगह उसे लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता करेंगे। श्रीरामकृष्ण के शब्दों में, ''तमोगुण को ईश्वर की ओर फेर देने से ईश्वर-लाभ होता है।''

यहाँ यही तात्पर्य है। इसके पहले मैंने दमन करने को नहीं, अपितु रूपान्तरण या उदात्तीकरण करने के लिये कहा। इसमें वही भाव व्यक्त किया गया है। ये सभी विकार ईश्वर के साथ जुड़ जाने चाहिये। जीवन की हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ और बाकी सभी चीजें उन्हीं की ओर उन्मुख होनी चाहिये। तब किसी दमन की आवश्यकता नहीं रह जायेगी, कोई ग्रन्थि नहीं उत्पन्न होगी। इससे सभी प्रवृत्तियाँ ईश्वर की ओर मुड़ जायेंगी तथा उनके द्वारा हमारी उन्नति सुचारु एवं अबाध होगी और वह बाधा डालनेवाली प्रवृत्तियों से अवरुद्ध नहीं होगी।

इसी बात को यहाँ एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। फिर भी, यह तत्त्व इतना महत्त्वपूर्ण है कि हर व्यक्ति को इन विचारों पर यथेष्ट ध्यान देना चाहिये। हमें उनके बाह्य रूप के आधार पर उनका मूल्यांकन नहीं करना चाहिये और केवल इसलिये उनकी उपेक्षा नहीं कर देनी चाहिये कि वे हमारे विचारों के साथ टकरा सकती हैं। हमें उनकी गहराई से जाँच करके यह देखने और समझने का प्रयत्न करना चाहिये कि क्या उनमें कोई सत्य है! ये विचार कुछ लोगों को कुछ नये लग सकते हैं, पर शताब्दियों से इनकी साधना की गयी है और इन्हें बहुत प्रभावकारी पाया गया है।

त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्य-दास्य-नित्य-कान्ता-भजनात्मकं प्रेम (एव) कार्यं प्रेमैव कार्यम्।।६६।।

अन्वयार्थ – **त्रिरूप-भंग-पूर्वकम्** – तीनों प्रकार की गौणी भक्तियों के अतीत होकर, **नित्य-दास्य-नित्य-कान्ता-भजनात्मकम्** दास्य (सेवक) अथवा कान्ता (पत्नी) भाव से निरन्तर सेवा, **प्रेम कार्यम्** – ईश्वर से प्रेम करना चाहिये, **प्रेम-एव कार्यम्** – ईश्वर से ही प्रेम करना चाहिये।

अर्थ – तीनों प्रकार की गौणी भक्तियों के परे जाकर सेवक या पत्नी भाव से ईश्वर की निरन्तर सेवा और उनसे प्रेम करना चाहिये, केवल उन्हीं से प्रेम करना चाहिये।

पूर्ववर्ती सूत्रों में बताया जा चुका है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। अब नारद समझा रहे हैं कि केवल ईश्वर से ही प्रेम करना है। प्रेम को ईश्वर और केवल ईश्वर की ओर ही उन्मुख करना है। इस बात पर जोर देने के लिये इसे दो बार कहा गया है। यह तो सकारात्मक पक्ष हुआ। फिर इसका निषेधात्मक पक्ष यह है कि ५६वें सूत्र में वर्णित गौणी भक्ति की तीनों श्रेणियों को छोड़ देना है। एक वर्ग सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भक्तों का है और दूसरा वर्ग आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्तों का है।

हम पहले ही इस बात पर चर्चा कर चुके हैं कि कैसे आर्त भक्त अन्य दो प्रकार के भक्तों से उत्कृष्टतर है और कैसे सात्त्विक भक्त, राजसिक तथा तामसिक भक्तों से उच्चतर है। यहाँ इन सभी के परे चले जाने को कहा गया है। तो फिर और क्या करना चाहिये? नारद कहते हैं कि व्यक्ति को निरन्तर और अटल रूप से दास्य या प्रेयसी भाव से ईश्वर की सेवा करनी चाहिये। यह सेवा अविराम तथा अविचलित भाव से होनी चाहिये। जीवन में चाहे जितनी भी उथल-पुथल आ जाय, परन्तु भक्त की भक्तिपूर्ण सेवा जारी रहनी चाहिये। यह प्रेम या ईश्वर के प्रति सच्चा अनुराग है। इस पर अधिक जोर देने के लिये ही नारद कहते हैं कि यह प्रेम ही करणीय है, केवल यह प्रेम ही करने योग्य है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

३. श्रीरामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, सं. १९९९, पृ. ९७७; तथा प्रथम भाग, पृ. ६६२ ४. वही, प्रथम भाग, पृ. १००

श्रीरामकृष्ण उवाच –

सहनशीलता का गुण

वर्णमाला में 'स' – वर्ण ही एक ऐसा है, जिसके तीन रूप हैं – श, ष, स। अर्थात् – हे जीव, सहो, सहो, सहो। बचपन में ही हमें वर्णमाला के द्वारा सहन करने की शिक्षा दी जाती है। सभी के लिए सहनशीलता अत्यन्त आवश्यक गुण है। लुहार के यहाँ जो निहाई होती है, उस पर कितने जोर से हथौड़े की चोटें चोट पड़ती रहती हैं, तथापि निहाई तनिक भी विचलित नहीं होती। इससे मनुष्य को धैर्य और सहनशीलता की शिक्षा लेनी चाहिए।

ईशावास्योपनिषद् (२२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

मनुष्य के जीवन का जो आन्तरिक पक्ष है, उसे हमें स्वयं ही देखना पड़ेगा। उसमें कोई दूसरा व्यक्ति हमारी सहायता नहीं कर सकता। दूसरा व्यक्ति हमें उपाय तो बता सकता है, किन्तु करना तो हमें ही पड़ेगा। इस उपनिषद के प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि यह सारा संसार ईश्वर से ओत-प्रोत है। अब इस मन्त्र पर विचार करें। कौन व्यक्ति ईश्वर की उपासना करने में समर्थ है? जिसने 'ईशावास्यं इदं सर्वम्' का अनुभव किया है, जिसने अपने अत:करण में आत्मा या ईश्वर का अनुभव किया है, उसी व्यक्ति के लिये यह संसार ईश्वरमय है, ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप है। किन्तु जिन्होंने ईश्वर का अनुभव नहीं किया है, जिनके हृदय में इसकी धारणा नहीं है, उनको जगत ही सत्य लगता है। जब जगत सत्य लगता है, तब ईश्वर तिरोहित हो जाता है। इस जगत के पीछे जो चैतन्य सत्ता है, वही सत्य है। जगत् जिस रूप में दिखाई पड़ता है, वह सत्य नहीं है। इसलिये इस जगत को ही सत्य समझने वाले और अधिक अंधकार में जाते हैं।

आइये अब हम उपासना के बारे में विचार करें। बारहवें मन्त्र में कहा गया है कि 'अन्धं तम: प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते'। यह उपासना शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस पर साधना की दृष्टि से विचार करें। उप+आसन = पास बैठना/निकटता प्राप्त करना। जो लोग असम्भूति अर्थात् प्रकृति की उपासना करते हैं, जो कि माया है, वे घोर अन्धकार में जाते हैं। यदि हम विचार करके देखें तो हम किसी न किसी के पास बैठे हैं। सिद्धान्त के तौर पर देखेंगे तो जब हम संसार के पास बैठे हैं तब परमात्मा से दूर हैं। यदि शरीर के निकट बैठे हैं, तो आत्मा से हम दूर हैं। इसलिये हमारी उपासना निरर्थक हो जाती है। उदाहरणार्थ — एक व्यक्ति जिसकी भोजन में बहुत रुचि है, वह व्यक्ति बार-बार भोजन का स्वाद लेता है। ऐसा व्यक्ति जिह्वा-इन्द्रिय के पास बैठा है। वह जीवन में किसकी उपासना कर रहा है? वह जिह्वा-इन्द्रिय की उपासना कर रहा है। मान लो वह भगवान को भोग लगाने के लिये मिठाई की दूकान में मिठाई खरीदने गया। उसकी रुचि की मिठाई पर दृष्टि पड़ते ही तुरन्त उसने वह मिठाई खरीद ली। शीघ्रता से मन्दिर में गया और तथाकथित भोग लगाकर स्वयं मिठाई खा ली। उसकी रुचि भोग लगाने में नहीं थी, भगवान के प्रसाद में नहीं थी। उसकी रुचि तो स्वयं मिठाई खाने में थी। ऐसा व्यक्ति जिह्वा-इन्द्रिय के निकट बैठा है, भगवान के निकट नहीं। जब हम उपासना, ध्यान-प्रार्थना आदि करने बैठते हैं, तो हमें देखना चाहिये हम किसके पास बैठे हैं। शरीर के पास बैठने का कोई अर्थ नहीं है। जहाँ हमारा मन बैठा है, वहीं हम बैठे हैं। उपासना का यही तात्पर्य है। हमारा मन यदि संसार के निकट बैठा है, तो हम आश्रम में रहकर भी परमात्मा से दूर हैं। अगर हम योगाभ्यास कर रहे हैं, ज्ञान-साधना कर रहे हैं और हमारा मन देह की ओर है, तो हम देह के पास बैठे हैं, आत्मा के पास नहीं। इसलिये उपासना के रहस्य को समझना चाहिये, उसकी धारणा करनी चाहिये और यह देखना चाहिये कि क्या हमारा मन इष्ट के निकट जाता है? यदि तत्काल नहीं भी जाता है, तो हमें बार-बार प्रयत्न करना चाहिये। हमें विचार करना चाहिये कि क्या हम प्रयत्न कर रहे हैं? क्या हम परमार्थ का चिन्तन कर रहे हैं? हमें अपनी वृत्ति का निरीक्षण करना होगा कि हमारी वृत्ति कहाँ है?

इस उपासना में और एक महत्त्वपूर्ण बात है कि व्यक्ति जब इन्द्रियों के भोग से तृप्त रहता है, तब वह अन्धकार की ओर जाता है। किन्तु कभी-न-कभी एक समय आता है जब कि वह उब जाता है, उसे विरक्ति आने लगती है और तब वह प्रकाश की ओर बढ़ने की सोचता है। वह विचार करता है कि क्या इन्द्रियातीत, इन्द्रियों से दूर हटकर कोई ऐसा तत्त्व है, जो मुझे इन्द्रियों की दासता से मुक्त कर सके? इन्द्रियों से हमें क्यों सुख मिलता है? क्योंकि इन्द्रियों से जो विषय हम सेवन करते हैं, उसमें हमें सुख का आभास होता है। इसमें क्षणिक सुख का अनुभव है। साधक के जीवन का सबसे खतरनाक पक्ष यह है कि असम्भूति, माया, अविद्या की उपासना निरन्तर चलती रहती है, फिर भी कभी तृप्ति नहीं होती।

अब अहंकार को देखें। कोई व्यक्ति खा-पीकर उब गया, सैर करके उब गया, विभिन्न प्रकार के भोगों में डूबकर उब गया, लेकिन उसे नाम-यश की आकांक्षा है। अब वह व्यक्ति नाम-यश के पीछे लगा है। यद्यपि माया, नाम-यश से इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती है। किन्तु इससे अहंकार की तृप्ति होती है। किसी संस्था का अध्यक्ष होने के लिये लोग पैसे देने के लिये तैयार रहते हैं। ऐसा क्यों? उन्हें धन का अभाव तो नहीं है। धन से इन्द्रियों को सुख तो मिल सकता

है, लेकिन अहंकार की पूर्ति नहीं हो सकती। पर यदि किसी का नाम किसी संस्था से जुड़ जाय, तो समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जायेगी, यह अहंकार उसके पीछे रहता है।

अहंकार की पूर्ति कभी नहीं होती। यह सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। इसका साधक को विशेष ध्यान रखना चाहिये। हम सब आत्मसाधक हैं। समाज का कल्याण भगवान करेंगे। हम समाज का कल्याण करने के पहले हमारी आत्मा का कल्याण करें। यदि हमने अपना कल्याण कर लिया तो उससे समाज का बहुत कल्याण हो सकता है, बहुत सेवा हो सकती है। कोई व्यक्ति एक पद प्राप्त करने के लिये रात को दो घण्टे सोता है, दिन में एक बार भोजन करता है, और भी दूसरे प्रकार के कष्ट सहन करता है। किन्तु ये सब वह क्यों करता है? जिस पद पर वह व्यक्ति है, उस अहंकार को अक्षुण्ण रखने के लिये ये सारी चेष्टायें हैं। साधक को सर्वदा सावधान रहना चाहिये। जब अहंकार का प्रश्न आये तो साधक को आत्मनिरीक्षण करना चाहिये, अपने आपसे पूछना चाहिये कि इससे क्या मिलने वाला है? नाम, यश, धन आदि से क्या होगा? इस प्रकार विचार कर अहंकार को तोड़ने का प्रयास करना चाहिये। अहंकार को तोड़ने का एकमात्र उपाय है, ईश्वर की ओर जाना, या आध्यात्मिक साधना में रत रहना। संसार में जो कुछ भी हो रहा है, उसका मैं कोई कारण नहीं हूँ। उस बड़ी योजना में मेरा क्षुद्र अंश हो सकता है और वह भी उन ईश्वर की कृपा से ही होता है। इस प्रकार के विचार सदैव हमें अपने मन में लाना चाहिये।

माया की उपासना का परिणाम हमने देखा कि इससे इन्द्रियों की तृप्ति होती है। यदि उससे ऊपर उठेंगे तो हम मनोराज्य में रहेंगे। ऐसे में अहंकार की तृप्ति और इससे बचना बहुत कठिन है। सम्भूति-असम्भूति से बचना बहुत कठिन है। इसका क्या परिणाम होगा! अहंकार बढ़ता जायेगा और हम दिन-पर-दिन अन्धकार के गर्त में गिरते जायेंगे।

अगले तेरहवें श्लोक में ऋषि सम्भूति और असम्भूति के परिणामों के बारे में निर्देश दे रहे हैं –

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१३।।

– अविनाशी परमात्मा की उपासना का परिणाम दूसरा और विनाशी देव आदि का परिणाम कुछ दूसरा ही कहते हैं। ऐसा हमने उन धीर महापुरुषों के द्वारा सुना है, जिन्होंने उस विषय वस्तु की व्याख्या कर हमें अच्छी तरह से समझाया था।

सम्भवात् अर्थात् अविनाशी सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ जगन्नियन्ता परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को जानकर उनकी सच्ची उपासना करने से साधक को परमात्मा की प्राप्ति होती है और असम्भवात् अर्थात् विनाशी देव-पितर-मनुष्य आदि की उपासना का फल ऋषियों ने कुछ दूसरा ही बताया है। विनाशी की उपासना का परिणाम विनाशी ही होगा। यह अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति नहीं करा सकता। अतः हमें अपने जीवन का लक्ष्य अविनाशी परमात्मा को ही बनाना चाहिये और उन्हीं की उपासना करनी चाहिये।

अब आचार्य हमें सम्भूति का दूसरा तात्पर्य बताते हैं। सम्भूति माने ईश्वर पराशक्ति। इस माया के फल का विचार करके उसे छोड़कर इस पराशक्ति की हम उपासना करेंगे तो क्या होगा? इसी की व्याख्या ऋषि अगले १४वें श्लोक में करते हैं –

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते।।१४।।

– जो साधक उन दोनों सम्भूति और असम्भूति, नित्य परमात्मा और अनित्य देवादि को साथ-साथ जान लेता है, वह अनित्य देवादि की उपासना से मृत्यु को पार कर नित्य परमात्मा की उपासना कर अमृत परमानन्द परमब्रह्म को प्राप्त करता है।

संसार में जो कुछ भी विनाशशील है वह कभी भी मनुष्य के जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। इसको बार-बार मन में बिठाना चाहिये। विनाशशील वस्तुओं से मिलने वाला सुख तात्कालिक होगा, विनाशशील होगा और उस सुख का अन्तिम परिणाम दुःख ही होगा। श्रीरामकृष्णदेव ने अपने भानजे हृदय को एकबार कहा – 'अरे यदि मैं ऐसा जानता कि यह जगत् सत्य है तो, इस कामारपुकुर को मैं सोने से मढ़वा देता।' जगत सत्य नहीं है, वह अनित्य है। आज है, कल नहीं रहेगा। किन्तु यह अनित्य जगत किस पर आधारित है? क्या इसका कोई आधार है? वह जो आधार है, वह है – 'ईशावास्यम् इदं सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत', वही चैतन्यसत्ता है, ब्रह्म है, ईश्वर है। इसका सदैव स्मरण करते रहना चाहिये।

इन सब चर्चाओं का सार है कि हमारी चेतना में परिवर्तन आ जाय। मैं सजग किसके बारे में हूँ? यदि मैं विनाशशील संसार के प्रति निरन्तर सजग हूँ, तो परिणाम विनाशशील असम्भूति ही होगा और यदि मैं नित्य या सम्भूति के प्रति सजग हूँ, तो उसका परिणाम अमृतत्व या सम्भूति होगा। यदि कोई व्यक्ति धन के प्रति सजग है, तो उसकी चेतना धन के प्रति केन्द्रित होगी। इसलिये उसके जीवन में धन-प्राप्ति की प्रेरणा होगी। उसके सारे व्यवहार वैसे ही होंगे। जिसके जीवन में लोभ प्रधान है, उसकी चेतना उसमें होगी। चेतना हमारी कहाँ है, इसे ढूँढकर निकालना चाहिये। सामान्यत; यह कठिन है। किन्तु एकान्त में बैठकर यह विचार करना चाहिये कि मेरी चेतना का केन्द्र कहाँ है? ❖ **(क्रमशः)** ❖

शिकागो के और भी समाचार

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुन: खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

इस दौरान जूनागढ़ रियासत के दीवान श्री हरिदास विहारी-दास देसाई कोलकाता पधारे। वहाँ पर वे वराहनगर मठ देखने गये और स्वामीजी की माता का दर्शन करने उनके घर भी गये थे। वहीं से उन्होंने खेतड़ी-नरेश के दीवान मुंशी जगमोहन लाल को एक पत्र में लिखा –

कोलकाता

१३/१ अर्मेनियन स्ट्रीट

१६ दिसम्बर, १८९३

प्रिय मुंशीजी साहब,

आशा है आपको मेरे दोनों पत्र मिल गये होंगे। शायद मैं आपके द्वारा भेजे गये तीन पत्रकों के लिये धन्यवाद दे चुका हूँ, जिनमें से एक गीता का काव्यानुवाद था, दूसरा महाराज कुमारश्री के जन्म से सम्बन्धित आनन्दोत्सव के विषय में था और तीसरा 'राजस्थान-समाचार' के २ नवम्बर १८९३ के अंक में प्रकाशित खेतड़ी के महाराजश्री के कई उदारतापूर्ण तथा जनहित के कार्यों से सम्बन्धित एक लेख का पुनर्मुद्रण था।

अब मैं आपको हमारे अति सम्माननीय स्वामी विवेकानन्द जी के विषय में अमेरिका के एक समाचार-पत्र में प्रकाशित सामग्री के अंशों की प्रतिलिपि भेजने के लिये बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने अमेरिका में काफी प्रसिद्धि पाई है और इस कारण वे बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से भारतीय जनता की निगाह में भी आ गये हैं। मैं अखबारों में यत्र-तत्र कुछ-न-कुछ उनके बारे में पढ़ता रहा हूँ। मैं उनके धार्मिक विचारों का अनुमोदन करता रहा हूँ और इसके लिये वे हमारे हार्दिक प्रशंसा तथा सम्मान के पात्र हैं, परन्तु मुझे नहीं लगता कि उनके समान एक प्रतिनिधि संन्यासी के लिये धर्म-महासभा के समक्ष अपनी धार्मिक उक्तियों के साथ अपने राजनीतिक विचारों को भी अभिव्यक्त करना आवश्यक था। "एक हाथ में बाइबिल और दूसरे में तलवार' – ऐसा वक्तव्य वे न देते, तो अच्छा होता।

२७ जनवरी १८९४ को या उसके आसपास मैं (अफीम) कमीशन के काम से अजमेर में रहूँगा और १ फरवरी तक वहीं रहूँगा। हम लोग बस एक दिन के लिये, केवल नगर-दर्शन हेतु ही जयपुर में रहेंगे।

आशा है आप कुशलपूर्वक होंगे। आपके अपने तथा स्वामीजी के विषय में कुछ आगे की बातें जानने के लिये आपके पत्र की अपेक्षा करता हूँ।

आपका विश्वस्त

हरिदास विहारीदास

इसी माह में स्वामीजी के गुरुभाई रामकृष्णानन्द जी ने वराहनगर मठ से मुंशीजी को पत्र लिखकर अमेरिकी समाचार-पत्रों के स्वामीजी विषयक कुछ उद्धरण भेजे तथा उनके छोटे भाई महेन्द्रनाथ की जागतिक परिस्थितियों के विषय में सूचना दी –

कोलकाता

२४ दिसम्बर, १८९३

प्रिय मुंशीजी,

मुझे विश्वास है कि धर्म-महासभा की समाप्ति के बाद आपने हमारे अति सम्माननीय गुरुभाई विवेकानन्द और अमेरिकी जनता द्वारा उनकी महानता की स्वीकृति के विषय में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा होगा। यहाँ कोलकाता में प्रतिदिन हमें यह सब देखकर प्रसन्नता होती है। चूँकि महाराज अपने स्वामीजी के बारे में शुभ समाचार सुनकर आनन्द-बोध करते हैं, मैं अमेरिकी अखबारों से निम्नोक्त उद्धरण भेज रहा हूँ –

"संक्षिप्त भाषणों में से अधिकांश वाग्मितापूर्ण थे, तथापि धर्म-महासभा की मूल नीतियों तथा सीमाओं का उन हिन्दू संन्यासी ने जितने अच्छे ढंग से वर्णन किया, वैसा किसी ने नहीं किया। मैं उनका पूरा भाषण उद्धृत करता हूँ, पर श्रोताओं पर उसका जो प्रभाव हुआ, उसके बारे में मात्र इतना ही कह सकता हूँ कि वे एक दैवी-अधिकार-सम्पन्न वक्ता हैं। वे अपनी सरल उक्तियों को जिस मधुर भाषा में व्यक्त करते थे, वह उनके गैरिक वस्त्र तथा मेधादीप्त तेजस्वी मुखमण्डल की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक था।

"उनकी शिक्षा, वाग्विदग्धता तथा मनमोहक व्यक्तित्व ने हमारे सम्मुख हिन्दू सभ्यता की एक नवीन धारा का उद्घाटन

किया है। उनके प्रतिभादीप्त मुखमण्डल तथा गम्भीर एवं सुललित स्वर ने लोगों को अनायास ही वशीभूत कर लिया है और अपनी इस भाग्य-लब्ध सम्पदा की सहायता से इस देश के अनेक गिरजों और क्लबों में उनके प्रचार के फल-स्वरूप अब हम उनके धर्ममत से परिचित हो चुके हैं। वे किसी तरह की तैयारी करके व्याख्यान नहीं देते, अपितु अपने वक्तव्य को धाराप्रवाह रूप में कहते हुए अपूर्व कौशल तथा आन्तरिकता के साथ निष्कर्ष तक पहुँचते हैं और अन्तर की गहन प्रेरणा कभी-कभी उनके भाषण को अपूर्व वाग्मिता से युक्त कर देती है।'' **– न्यूयार्क क्रिटिक**

''विवेकानन्द निश्चित रूप से महासभा के महानतम व्यक्ति हैं। उनके व्याख्यान सुनने के बाद हमारी समझ में आ गया है कि उस ज्ञानी राष्ट्र में धर्मप्रचारक भेजना कैसी मूर्खता है!'' **– हेराल्ड**[१]

हमें अभी तक उनके पूरे व्याख्यानों को पढ़ने का अवसर नहीं मिल सका है, परन्तु हम उसे शीघ्र पाने की उम्मीद करते हैं। हमारे एक मित्र ने मि. बैरोज को पत्र लिखा है और महासभा के उस पूरे रिपोर्ट को भेजने के लिये उन्हें रुपये भेज दिये हैं, जिसमें विवेकानन्दजी के पूरे व्याख्यान हैं, ताकि हम उसे यहाँ मुद्रित कराकर अपने महान् गुरुदेव की अगली जन्मतिथि पर हजारों सज्जनों के बीच वितरित कर सकें और उसका प्रकाशन होने पर सर्वप्रथम हम उसे महाराज के अवलोकनार्थ भेजेंगे। परन्तु इस दौरान यदि महाराज ने वैसा कुछ या उनके (स्वामीजी) बारे में कोई समाचार पढ़ा हो, तो क्या आप कृपापूर्वक हमें उसे उपलब्ध करायेंगे!

पिछली शाम को मैं महेन्द्रनाथ से मिला। वह अपनी माता, भाई तथा अन्य लोगों के साथ कुशलतापूर्वक है। उसने अपनी बी.ए. की परीक्षा की तैयारी कर ली है, परन्तु उसे अपने कॉलेज के सेशन तथा परीक्षा-शुल्क के १२५ रुपये जमा करने और साथ ही परिवार का खर्च चलाने में कठिनाई है। फिर, यदि ५ जनवरी १८९४ तक शुल्क जमा नहीं किये गये, तो कॉलेज से उसका नाम काट दिया जायेगा। जब महाराज स्वयं ही स्वामीजी के परिवार में इतनी गहरी रुचि लेते हैं, तो सहायता तत्काल आयेगी और सारी आशंकाएँ तथा चिन्ताएँ दूर हो जायेंगी।

महाराज, कुमार तथा उनके पूरे परिवार को मेरी हार्दिक शुभ-कामनाएँ! आशा है आप सभी अच्छे स्वास्थ्य का उपभोग कर रहे होंगे। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि कुमार दिन-पर-दिन आनन्दपूर्वक वर्धमान रहे। मलेरिया बुखार के अनेक आक्रमणों के बाद अब हम लोग यहाँ भलीभाँति हैं। हमारे भले मित्र मुंशीजी, आपको भी आशीर्वाद।

महाराज के लिये शुभ कामनाओं तथा प्रार्थनाओं के साथ

आपका विश्वस्त

रामकृष्णानन्द

द्वारा वैकुण्ठ नाथ सान्याल

गवर्नमेंट स्टेशनरी ऑफिस, कोलकाता[२]

इसी माह शिकागो से स्वामीजी ने वराहनगर में अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने मुंशीजी के माध्यम से राजा साहब को सूचित किया कि स्वामीजी ने शिकागो से उन्हें एक पत्र लिखा है और उस पत्र की मुख्य बातों का ब्यौरा देते हुए वे लिखते हैं –

कोलकाता

१४ फरवरी, १८९४

प्रिय मुंशीजी,

मुझे आपको सूचित करते हुए बड़ा आनन्द हो रहा है कि सुदीर्घ काल के बाद हमें अपने अति सम्माननीय गुरुभाई विवेकानन्दजी से एक पत्र मिला है। वे अब भी शिकागो में हैं और कुशल-मंगल से हैं। आपको यह जानकर अतीव प्रसन्नता होगी कि अमेरिकी राष्ट्र ने उनकी काफी प्रशंसा की है और वे लोग उनके सभी उद्देश्यों में यथासम्भव सहायता कर रहे हैं। हजारों स्त्री-पुरुष उनकी बातें सुनने के लिये उनके चारों ओर एकत्र होते हैं और उनके साथ-साथ सर्वत्र जाते हैं। वे लोग उन्हें प्रेम देते हैं, सम्मान देते हैं, गुरु के समान पूजते हैं और उन्हें बिल्कुल भी छोड़ना नहीं चाहते। उन्होंने लिखा है कि वहाँ बड़ी भयंकर ठण्ड पड़ती है। पूरा देश यानी कि उत्तरी अमेरिका २ से ५ फीट बर्फ से ढँका हुआ है। नदियाँ, सरोवर और यहाँ तक कि नियाग्रा का भयंकर तथा प्रचण्ड जल-प्रपात – सब जमकर ऐसे पत्थर हो गये हैं कि हाथी भी उस पर धरती के समान ही सहज भाव से चलकर जा सकता है। ठण्ड इतनी ज्यादा है कि देश के उत्तरी भाग में साधारण थर्मामीटर भी जम जाता है और लोगों को उसकी जगह पर स्पिरिट के थर्मामीटर का उपयोग करना पड़ता है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि वहाँ के लोग गिलास में बर्फ का एक टुकड़ा डाले बिना पानी नहीं पीते, क्योंकि उनके रिहायसी मकान और यात्री-गाड़ी के डिब्बे भाप की नलियों द्वारा गर्म रखे जाते हैं। यदि किसी को बाहर जाना रहता है, तो उसे गर्म सूट के ऊपर समूर का कोट और चमड़े के जूतों के ऊपर ऊनी जूते पहन लेने पड़ते हैं। वहाँ सब कुछ काफी महँगा है। एक कुली या नौकर की दैनिक मजदूरी ६ रुपये

१. स्वामीजी द्वारा श्री हरिदास विहारीदास को शिकागो से १५ नवम्बर १८९४ (१८९३?) के पत्र में भी ये दोनों उद्धरण मिलते हैं – द्र. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३२६-२७

२. उपरोक्त दोनों पत्र – खेतड़ी पेपर्स १९९९ से अनूदित

है; एक सिगार चार आने का, साधारण जूतों की जोड़ी २४ रुपयों की और सूट ५०० रुपयों में आता है। उन्होंने लिखा है कि अमेरिकी कार्य-कुशलता, विलासिता और धन कमाने और खर्च करने में अद्वितीय हैं। प्रारम्भ में उन्होंने (स्वामीजी) सोचा था कि वे वहाँ की भयंकर ठण्ड को सहन नहीं कर सकेंगे, परन्तु अब तक वे भले-चंगे ही रहे हैं, खेद की बात केवल यही है कि उन्हें ढेर सारे गरम कपड़ों का उपयोग करना पड़ता है। उनका कहना है कि वहाँ की महिलाएँ विद्या-बुद्धि, स्वाधीनता तथा दयालुता की दृष्टि से दुनिया में सर्वोच्च हैं, वस्तुत: वे ही समाज में सब कुछ हैं और वे करुणा तथा धर्मप्राणता की प्रतिमूर्ति हैं। यहाँ ऐसी हजारों महिलाएँ हैं, जिनका हृदय यहाँ चारों ओर फैली शुभ्र बर्फ के समान ही पवित्र है।[३]

हमें आपको मूल पत्र भेजकर प्रसन्नता होती, परन्तु खेद की बात यह है कि वह हमें बँगला भाषा में लिखा गया है और हममें से कइयों ने अभी तक उसे पढ़ा नहीं है। हमारे ठाकुर का जन्मदिन-समारोह ११ मार्च ९४ को होगा, जिसके लिये मैं आपको दो निमंत्रण-पत्र भेज रहा हूँ – एक आपके और दूसरा महाराज के लिये। यदि आप यहाँ आने की व्यवस्था कर इस शुभ उत्सव में हमारे साथ सम्मिलित हो सकें, तो हम लोगों को बड़ी खुशी होगी।

हम सब चाहते हैं कि एक बार आप आकर देखें कि उस दिन कैसी अद्भुत घटनाएँ होती हैं। कोलकाता के उच्च तथा मध्यम वर्ग के हजारों लोग – संसार की सारी बातों तथा चिन्ताओं को भुलाने और शान्ति, सुख तथा सच्चा आनन्द का आस्वादन करने के लिये इस स्वर्गोद्यान (दक्षिणेश्वर) में एकत्र होते हैं, जहाँ हमारे ठाकुर ने निवास किया था। सैकड़ों लोगों की टोलियाँ स्वयं को भुलाकर प्रार्थना करती हैं, एक साथ मिलकर परमेश्वर का गुणगान करती हैं और हमारे ठाकुर अपने सर्वग्राही प्रेम तथा सर्वग्राही धार्मिक शिक्षाओं तथा सहिष्णुता के सिद्धान्त के साथ लोगों द्वारा लाये गये पूजा तथा नैवेद्य को स्वीकार करते हैं। संक्षेप में कहें तो पूरा उद्यान ही मानो एक असाधारण शक्ति से सजीव प्रतीत होता है और प्रभु दूसरों के लिये अगोचर होकर भी, जाति तथा मत से निरपेक्ष मानो सबके हृदय में बैठे हुए दु:ख दूर करते हैं, नवजीवन प्रदान करते हैं और उन पर सुख, शान्ति तथा आनन्द से सराबोर कर देते हैं। ऐसा भव्य दृश्य तथा महानतर चीजों को देखने क्या आप नहीं आयेंगे?

३. पूरे पत्र के लिये द्र. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३३४-३९

कुछ दिनों पूर्व महेन्द्र नाथ को देखा। वह, उसकी माता, उसका छोटा भाई तथा परिवार के अन्य सदस्य सकुशल हैं। वह अपने अध्ययन में व्यस्त है और प्रतिदिन कोई-न-कोई पुस्तक दुहराता रहता है। उसकी परीक्षा करीब २६ तारीख को पड़ेगी। जब महाराज ही स्वामीजी के परिवार की देखभाल करनेवाले हैं, तो वे स्वयं ही उन्हें सहायता पहुँचाने के बेहतर उपाय जानते हैं। अत: इस विषय में मुझे और कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं है।

आशा करता हूँ कि महाराज, उनके कुमार तथा परिवार स्वास्थ्य, शान्ति तथा समृद्धि का आस्वादन कर रहा होगा। आशा है आप भी सकुशल होंगे। महाराज के लिये आशीर्वाद तथा प्रार्थनाएँ और आपके लिये शुभ कामनाएँ।

आपका विश्वस्त,

रामकृष्णानन्द

द्वारा वैकुण्ठ नाथ सान्याल

गवर्नमेंट स्टेशनरी ऑफिस, कोलकाता[४]

उपरोक्त पत्र के साथ संलग्न श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव का छपा हुआ निमंत्रण-पत्र तथा उसके साथ स्वामी रामकृष्णानन्दजी द्वारा लिखा हुआ नोट निम्नलिखित है –

सेवा में,

महामहिम खेतड़ी-नरेश

राजपुताना

महाराज,

हमारे प्रभु रामकृष्ण परमहंस देव की जन्मतिथि रविवार, ११ मार्च १८९४ को दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि के कालीबाड़ी में मनाया जायेगी। आपकी उपस्थिति तथा सहयोग की अपेक्षा है।

शिष्यगण

वराहनगर मठ

आलमबाजार, २४ परगना, बंगाल

९ फरवरी, १८९४

पुनश्च – इस महान् कार्य में स्वत:स्फूर्त आर्थिक सहयोग हमारे द्वारा धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया जायेगा।

रामकृष्णानन्द[५]

४. Swami Vivekananda : A Forgotten Chapter of His Life, Second Edition 1982, p. 178-180

५. Ibid., p. 181

❖ (क्रमश:) ❖
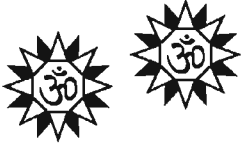
स्वामीजी के साथ समुद्र-यात्रा

रीव्ज कैल्किन्स

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

स्वामीजी के बारे में मेरी प्रथम धारणा कोई सुखद न थी। वे विश्व मेले में आयोजित शिकागो धर्म-महासभा में भारत के प्रतिनिधि के रूप में आये थे; और मैं हाल ही में विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी किये हुए एक युवा (ईसाई) धर्म-प्रचारक के रूप में वहाँ उपस्थित था। वहाँ उन्होंने जिस अधिकारपूर्ण सहजता के साथ ईसाई विश्व के इतिहास को दरकिनार कर दिया और प्राची में एक नये सितारे के उदय की घोषणा की, उसे मैं प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देख सका। शायद उनके राजोचित आचरण ने मेरे अमेरिकी जनतांत्रिक भाव को थोड़ा धक्का पहुँचाया था। उन्होंने तर्क के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया कि वे दूसरों की अपेक्षा उच्चतर कोटि के व्यक्ति है, बल्कि वे मानो ऐसा मानकर ही चल रहे थे। बाद में जब मुझे पता चला कि अमेरिका के बॉस्टन आदि कई नगरों में विवेकानन्द-क्लबों की स्थापना हुई है, तो अनेक लोगों के समान मैंने भी यही सोचा कि उनके आदर्श नहीं, बल्कि उनकी आँखें ही मूर्ख अमेरिकी महिलाओं को सम्मोहित कर रही हैं और यह बिलकुल अनुचित है। इसके बाद कई वर्षों तक मुझे उनके बारे में आगे का कुछ भी सुनने को नहीं मिला।

नेपल्स में एक पुरानी इटैलियन कम्पनी के 'रुबात्तिनो' नामक जहाज में सवार हुआ और १९०० ई. के दिसम्बर में भारत पहुँचा। संयोगवश भोजनालय कक्ष में बीच की मेजों में से एक पर मेरे लिये स्थान निर्धारित था और मेरी कहानी काफी कुछ उसी से सम्बद्ध है।

मध्य-प्रान्त सिविल सर्विस के अधिकारी (I.C.S.) मि. ड्रेक ब्राकमैन मेरी दाहिनी ओर की पहली कुर्सी पर बैठते थे और सिविल सर्विस के ही एक अन्य अंग्रेज अधिकारी उनके ठीक सामने बैठते थे, जिनका नाम अब मैं भूल चुका हूँ। स्वेज नहर पहुँचने पर कुछ यात्रियों के जहाज से उतर जाने के कारण मेजों की व्यवस्था में कुछ परिवर्तन हुआ था। लाल सागर में पहुँचने के बाद पहली बार भोजन करते समय ब्राकमैन की बगल में भारतीय वेश धारण किये एक विचित्र व्यक्ति बैठा हुआ दीख पड़ा। पहले दिन भोजन के समय उन्होंने चुपचाप जहाज में दिया जानेवाला एक बिस्कुट खाया और सोडावाटर पीकर अन्य लोगों का भोजन समाप्त होने के पहले ही उठ गये। सभी लोग कुतूहल के साथ एक-दूसरे से पूछने लगे कि ये सम्भ्रान्त अपरिचित कौन हैं? क्योंकि एक बात तो स्पष्ट था कि ये कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं। भोजन करनेवालों में से एक सज्जन ने अपनी भद्रता को ताक पर रखकर बेयरे को पुकारा और उसे पेयों के आदेश-कार्ड लाने को कहा। उन्होंने अपना कार्ड देखने के बहाने उनमें से एक कार्ड ढूँढ़ निकाला, जिसे प्रत्येक मेज पर घुमाया गया। मेरे सामने से होकर गुजरनेवाले उस कार्ड पर पेंसिल से लिखा था – 'विवेकानन्द'। क्षण भर में ही मुझे याद आ गया कि इन्होंने ही तो धर्म-महासभा में इतना बड़ा तूफान खड़ा कर दिया था। मैं उत्सुकता के साथ यात्रा के आनेवाले दिनों की प्रतीक्षा करने लगा।
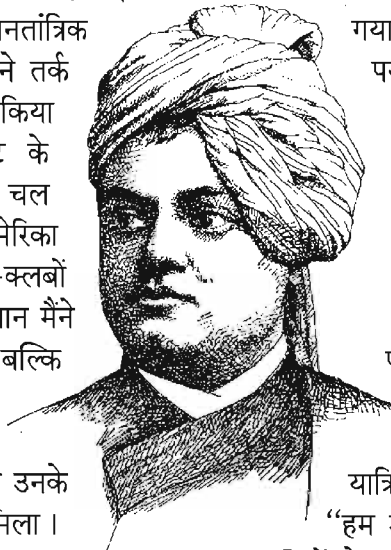
स्वामीजी के बारे में मेरी पुरानी धारणा अब भी प्रबल थी, अत: मैंने तत्काल उनसे परिचय करने का प्रयास नहीं किया; खाने की मेज पर थोड़ा-सा सिर झुकाकर अभिवादन कर लेना ही काफी था। पर एक बार मैंने यात्रियों को उनका नाम लेकर यह कहते सुना – "हम उनकी सच्चाई को खींच निकालेंगे।" अगले दस दिनों के बौद्धिक संघर्ष में लगता है कि ईमानदारी की अपनी सहज वृत्ति के कारण, मैं एक अचेतन सहायक के रूप में विवेकानन्द की ओर आकृष्ट हुआ। सम्भवत: वे मेरी अघोषित मित्रता को समझ गये थे, क्योंकि उन्होंने तत्काल मेरी ओर उन्मुख होकर पूछा – "क्या आप अमेरिकन हैं?"

– "हाँ।"

– "मिशनरी हैं?"

– "हाँ।"

उन्होंने पूछा – "आप मेरे देश में धर्म-प्रचार क्यों करते हैं?"

मैंने प्रत्युत्तर दिया – "आप भी मेरे देश में धर्म-प्रचार क्यों करते हैं?"

इसके बाद उनकी पलकों में जरा-सा विनोदपूर्ण स्पन्दन होते ही हम दोनों सहज भाव से उच्च स्वर में हँस पड़े और आपस में मित्र बन गये।

दो-एक दिनों तक खाने की मेज पर कोई-न-कोई यात्री उन्हें अपनी बातों के जाल में फँसाने को अग्रसर हुआ, परन्तु स्वामीजी की ओर से उसे कोई अवसर नहीं मिलता। उनके उत्तर प्राय: प्रत्युत्पन्न तथा सटीक हुआ करते थे और उससे भी अधिक ओजपूर्ण होते। उनके कथन कहावतों तथा समुचित उद्धरणों से जाज्वल्यमान रहा करते।

आखिरकार मि. ड्रेक ब्राकमैन के अतिरिक्त बाकी सभी ने स्वामीजी के साथ वाग्युद्ध की चेष्टा में अपने-अपने हथियार डाल दिये। वे अपनी तीक्ष्ण तथा विश्लेषणात्मक बुद्धि के द्वारा निरन्तर स्वामीजी की उक्तियों को काटते रहे और उन्हें स्वीकृत तथ्यों के साक्ष्य तक ही रोकने का प्रयास करते रहे। इससे स्वामीजी बड़ी चिन्ता में पड़ गये। समूह के बाकी लोग शीघ्र ही इसमें अपनी रुचि खो बैठे और मेज की एक छोर पर बैठनेवाले इस छोटी-सी टोली को नाश्ते तथा भोजन के साथ आपस में निरन्तर चर्चा करने के लिये छोड़ दिया।

एक रात अन्य लोगों के साथ मैंने भी एक खोज की। उस रात स्वामीजी का वक्तव्य विशेष ओजस्वी प्रतीत हुआ था। उनकी वाग्धारा ऐसी प्रवाहित हो रही थी मानो गंगा में बाढ़ आयी हुई हो। कोई भी उसमें बाधा डालने में सफल नहीं हो पा रहा था। भले ही कोई प्रश्न उन्हें क्षण भर के लिये विचलित कर दे, पर वे पुन: अपने वक्तव्य की मुख्य धारा में आगे बढ़ने लगते। एक असाधारण वाग्धारा बहाने के बाद अन्त में उन्होंने हममें से प्रत्येक की ओर हल्के से सिर झुकाकर अभिवादन किया, उठकर खड़े हुए और चुप-चाप भोजनालय से बाहर चले गये। मि. ड्रेक ब्राकमैन के सामने बैठा हुआ सिविल अधिकारी मेज पर झुककर उनसे बोला – "क्या आपने इस बात पर गौर किया कि जब कभी हम इन भारतीय सज्जन को बीच में टोकते थे, तो ये दुबारा वहीं से शुरू करते थे, जहाँ इन्होंने छोड़ा था?"

– "हाँ, हम दोनों का इस ओर ध्यान गया है।"

– "वे अपना कोई पुराना ही व्याख्यान हम लोगों के सामने फिर से दुहरा रहे हैं।"

और यही वास्तविकता थी। तो भी वह एक बड़ा ही अद्भुत तथा रोचक वक्तव्य था और जहाजों में होनेवाली उन साधारण बातों की अपेक्षा बड़े ऊँचे दर्जे का था।

स्वामीजी एक दार्शनिक से कहीं अधिक एक देशभक्त थे। मेरे विचार में वेदान्त-प्रचार के लिये उनमें इतना उत्साह इसलिये था कि उन्हें लगता था कि भारतीय राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करने का यही सर्वाधिक निश्चित मार्ग है। मेरा विश्वास है कि यह उनकी भूल थी।* तथापि उनके देशप्रेम ने मेरी उनके विषय में उस प्रारम्भिक दुखद धारणा को भुला दिया और उन्हें उस रूप में जानने में मुझे सक्षम बनाया, जैसा कि मुझे लगता है कि वे अपने स्वदेश -वासियों द्वारा याद किया जाना पसन्द करेंगे – एक प्राचीन धर्ममत के प्रचारक के रूप में नहीं, अपितु अपने देश के एक ऐसे प्रेमी के रूप में, जो आधुनिक राष्ट्रों के बीच अपने देश की कल्याण-साधना के लिये चेष्टा कर रहा हो।

उनके इस उद्दाम देशप्रेम और ईसाई मिशनरियों के उद्देश्य के विषय में उनकी आशंका के फलस्वरूप एक बार एक विस्फोटक स्थिति पैदा हो गयी थी। एक दिन शाम को मूंगफली के साथ काफी पीते हुए हमारी बातचीत का रुख 'स्वराज्य के लिये भारत की योग्यता' विषय की ओर मुड़ गया। (वैसे ये बातें २२ वर्ष से भी अधिक काल पूर्व हुई थीं, जब मोंटगू-चेम्सफोर्ड सुधार बिल अस्पष्ट तथा बहुत दूर की बात थी और उस समय ऐसी बातें सैकड़ों साल तक तर्कसंगत ढंग से जारी रह सकती थीं, क्योंकि कोई भी राष्ट्र अब भी स्वराज्य के लिये 'योग्य' नहीं हो सका है।)

उस समय स्वामीजी सहसा गरज उठे थे – "अंग्रेज लोग हमें शासन चलाने की कला सिखा सकते हैं, क्योंकि इस विद्या में बिट्रेन सभी राष्ट्रों में आगे है।" इसके बाद वे मेरी ओर उन्मुख होकर बोले, "अमेरिका हमें कृषि, विज्ञान तथा कार्य करने की वह अद्भुत कुशलता सिखा सकता है, क्योंकि इन सबमें हम आपके छात्र-स्थानीय हैं, पर" – यह कहते हुए स्वामीजी की मधुर वाणी रुक्ष तथा कटु हो उठी – "कोई भी राष्ट्र भारत को धर्म सिखाने की धृष्टता न दिखाये, क्योंकि इस विषय में भारत पूरी दुनिया का गुरु है।"

उस रात हम लोग एक साथ डेक पर टहलते हुए कुछ गम्भीर विषयों पर चर्चा कर रहे थे, जिसमें न ब्रिटिश थे, न अमेरिकन और न भारतीय; हम भूखी मानवता और ईश्वर के पुत्र (ईसा मसीह) के बारे में बातें कर रहे थे, जिनके बलिदान का रक्त अब भी एशिया की अस्थिर बालुका-राशि में कहीं

* स्वामीजी के वेदान्तिक मिशन के द्विविध उद्देश्य के विषय में भगिनी निवेदिता कहती हैं – "इनमें से एक था विश्व का कल्याण और दूसरा राष्ट्र का निर्माण।" भारत के सन्दर्भ में स्वामीजी के आन्दोलन का उद्देश्य उन्हीं के शब्दों में 'हिन्दू धर्म के सामान्य आधारों की खोज और उनमें राष्ट्रीय चेतना का जागरण' था। भारत के आध्यात्मिक सन्देश को पश्चिम में ले जाने का अपना उद्देश्य वे स्पष्ट शब्दों में बताते हैं – "लेनदेन ही प्रकृति का नियम है। कोई भी व्यक्ति या वर्ग या राष्ट्र यदि इस नियम को नहीं मानता, तो वह कभी उन्नत नहीं हो सकता। हमें इस नियम को मानना होगा। इसी कारण मैं अमेरिका गया। ... काफी काल से वे लोग अपनी सम्पत्ति तुम्हें देते आये हैं और अब समय आ गया है कि तुम भी अपने अमूल्य खजानों का उनके बीच वितरण करो। तुम देखोगे कि कैसे उनकी घृणा-भावना शीघ्र ही तुम्हारे प्रति विश्वास, भक्ति तथा श्रद्धा में परिणत हो जायेगी और वे लोग बिना कहे ही हमारे देश की कितनी भलाई करेंगे!" भारत तथा अन्य देशों में स्वामीजी के प्रयासों का जो फल हुआ है, उसी से स्पष्ट हो जाता है कि वे अपनी योजना के निर्धारण में कितने सही थे।

दबा पड़ा है। शायद मैंने स्वामीजी को यह समझने में सहायता की कि कोई पागल ईसाई मिशनरी ही भारत को 'धर्म' सिखाने के बारे में सोचता होगा, बल्कि वे लोग तो भारत को केवल मनुष्य को समझने तथा उससे प्रेम करने में सहायता मात्र कर रहे हैं।

यात्रा के आखिरी एक-दो दिनों के दौरान हमारी आपसी समझ और, मेरा विश्वास है कि हमारे आपसी सम्मान में भी काफी वृद्धि हुई। स्वामीजी का आध्यात्मिक ज्ञान बड़ा ही आकर्षक तथा अद्भुत था। उस पर हमारे तर्क-वितर्क का कोई असर नहीं पड़ता था। जब हमारी बातचीत स्वाभाविक रूप से 'आत्मा' के रहस्यमय विषय की ओर उन्मुख होती, तो उनकी भारी पलकें धीरे-धीरे बन्द हो जातीं और मेरी उपस्थिति में ही वे किसी अज्ञात लोक में विचरण करने लगते, जहाँ मेरा प्रवेश असम्भव था। ऐसे ही एक अवसर पर जब मैंने कहा कि ईसाई मतावलम्बी का ईश्वर के साथ जो अन्तरंग सम्बन्ध होता है, उसमें उसे सजग तथा सचेत रहना पड़ता है (जैसा कि सभी व्यक्तिगत सम्बन्धों में होता है), और इसीलिये मूलतः तथा आवश्यक रूप से वह हिन्दू के उस सर्वव्यापी ब्रह्म में तन्मयता से बिल्कुल भिन्न होता है। तो इस पर उन्होंने एक बार निगाह उठाकर मेरी ओर देख लिया, परन्तु कुछ कहा नहीं।

'रुबात्तिनो' जहाज के मुम्बई पहुँचने की पूर्ववर्ती रात को हम सामने की डेक पर खड़े थे। स्वामीजी एक छोटे-से ब्रायर पाइप से धूम्रपान कर रहे थे, जिसके बारे में वे बोले – "अंग्रेजों का यह एक ही दोष है, जिसे मैं पसन्द करता हूँ।" समुद्र की लहरों और आगामी कल से शुरू होनेवाले अज्ञात जीवन ने हमें मौन कर दिया था। काफी देर तक एक भी शब्द का उच्चारण नहीं हुआ। उन्हें मानो विश्वास हो गया था कि मैं भारत को कोई हानि नहीं पहुँचाने वाला हूँ। उन्होंने मेरे कन्धे पर अपना हाथ रख दिया।

वे बोले, "महाशय, लोग अपने-अपने बुद्ध, कृष्ण और ईसा के बारे में चाहे जितना बोलते रहें; परन्तु हम दोनों जानते हैं कि हम एक अखण्ड के अंश मात्र हैं।"

उनका हाथ मेरे कन्धे पर ही रहा। वह इतना मित्रतापूर्ण हाथ था कि मैं सहसा उसे हटा नहीं सका। इसके बाद उन्होंने स्वयं ही अपना हाथ खींच लिया और मैंने अपना उनकी ओर बढ़ा दिया।

मैं बोला, "स्वामीजी, आप अपने बारे में कह सकते हैं, पर मेरे बारे में नहीं। आप जिस अखण्ड की बात कह रहे हैं, भले ही हम उसमें डूबे रहें, जैसे कि यह जहाज हिन्द महासागर में डूबा हुआ है, मगर वह निर्गुण है और इसलिये वह अज्ञेय भी रह जायेगा। मैं जिस ईश्वर को जानता हूँ तथा जिससे प्रेम करता हूँ, वह सगुण है और खूब वास्तविक है – और स्वामीजी, सारी पूर्णता उसी में निवास करती है।"

सिगार उनके होठों तक गया और जब वे जहाज की रैलिंग का सहारा ले रहे थे, तो स्वामीजी की भारी पलकों ने संकेत दिया कि उनकी चेतना कहीं दूर जा चुकी है। स्वामीजी उस रात जिसकी खोज कर रहे थे, कौन जाने – वह अखण्ड था, या फिर सबमें व्याप्त वह 'एक' था!

(प्रबुद्ध भारत, मार्च १९२३)

पुरखों की थाती

तावत् जितेन्द्रियो न स्यात् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्-रसनं यावत् जितं सर्वं जिते रसे ।।

– व्यक्ति जब तक स्वादेन्द्रिय या जिह्वा को नहीं जीत लेता, तब तक अन्य इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने के बावजूद उसे जितन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। जिह्वा पर विजय पा लेने से सब पर विजय मिल जाती है।

तृष्णे देवि नमस्तुभ्यं या त्वं सर्वस्य सर्वदा।
उत्पादयस्य यत्नेन गोष्पदे सागर-भ्रमम् ।।

– हे तृष्णा देवी, आपको प्रणाम है, क्योंकि तुम्हारे अन्दर ऐसी शक्ति है कि तुम गो के खुर से बने हुए गड्ढे में एकत्र होनेवाले अल्प जल में समुद्र का भ्रम उत्पन्न कर देती हो, अर्थात् जगत् के तुच्छ पदार्थों में महत्ता का बोध उत्पन्न कर देती हो।

ते धन्याः पुण्यभाजस्ते तैस्तीर्णः क्लेशसागरः।
जगत्सम्मोह-जननी यैराशाऽऽशीविषी जिता ।।

– वे ही लोग धन्य हैं, वे ही पुण्यात्मा हैं और उन लोगों ने ही इस दुःखमय भवसागर को पार कर लिया है, जिन्होंने जगत् को सम्मोहित करनेवाली आशा-तृष्णा रूपी विषैली सर्पिणी पर विजय पा लिया है।

तृणं चाहं वरं मन्ये नराद्-अनुपकारिणः।
घासो भूत्वा पशून् पाति भीरून् पाति रणाङ्गने ।।

– उपकार न माननेवाले स्वार्थी व्यक्ति की अपेक्षा मैं घास-फूस के रूप में जन्म लेनेवाले को कहीं अधिक उत्तम मानता हूँ, क्योंकि घास-फूस होकर वह पशुओं का खाद्य बनकर उनकी रक्षा करता है और रणभूमि में (छिपने का स्थान देकर) कायरों की भी रक्षा करता है।

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

माँ की बातें

निर्झरिणी सरकार

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

[निर्झरिणी सरकार (१८९४-१९६३) माँ की मंत्रशिष्या थीं। एक दिन माँ ने उनसे परम स्नेहपूर्वक पूछा था, "तुम मंत्र लोगी?" माँ की इस अयाचित करुणा से वे अभिभूत हो गयीं। उसी दिन उन्हें महामंत्र मिला था। (रचना-संग्रह, निर्झरिणी सरकार, प्र. सं., १९९१ ई., आनन्द पब्लिसर्स, कोलकाता, पृ. ९) सरलाबाला सरकार निर्झरिणी की माँ थी, 'आनन्द बाजार पत्रिका' के संस्थापक-सम्पादक प्रफुल्ल सरकार उनके पति, उसी 'पत्रिका' के सम्पादक अशोक कुमार सरकार उनके पुत्र थे। वे देशप्रेमी तथा अच्छी लेखिका थीं। लेखिका का गुण उन्होंने अपनी माँ सरलाबाला से उत्तराधिकार में पाया था, पर देशप्रेम के अग्निमंत्र में वे अपनी माँ के समान ही भगिनी निवेदिता के द्वारा दीक्षित हुई थीं। वे निवेदिता के विद्यालय की छात्रा थीं। उसी शिक्षा ने उनके चरित्र और भावी जीवन तथा कर्म पर गम्भीर प्रभाव डाला था। – सं.]

जब मुझे पहली बार माँ के दर्शन का सौभाग्य मिला, तब मेरी आयु काफी कम थी, अत: उस समय माँ को समझने या उनके विषय में कोई धारणा बनाने की क्षमता मुझमें नहीं थी। उन दिनों मैं निवेदिता विद्यालय की छात्रा थी। तब भी मुझे माँ के दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला था, लेकिन मुझसे पहले जो बालिकाएँ वहाँ पढ़ने आयी थीं, उन स्कूल की सहेलियों से मैं प्राय: ही माँ की बातें सुना करती। उनमें से कइयों को बहुत पहले से ही माँ को देखने, उनकी बातें सुनने, उनके स्नेह-दुलार पाने और उनके हाथों से प्रसाद पाने का सौभाग्य मिला था। वे अक्सर आपस में माँ की बातें करतीं। उनमें से मेरी ही आयु की कोई बालिका कहती, "आज मैंने सपने में माँ को देखा।" कोई कहती, "जब भी सामने कोई कठिनाई आती है, मन-ही-मन माँ से कहती हूँ, माँ को सब कुछ बताती हूँ। और तत्काल ही मानो माँ का उत्तर सुन पाती हूँ, माँ हमसे कितना स्नेह करती हैं।"

यह सब सुनकर मेरे भी मन में माँ को देखने की प्रबल इच्छा होती और मैं मन-ही-मन कल्पना करती कि माँ देखने में कैसी होंगी? मेरे बाल-मन को माँ एक अद्भुत अनुभूति की साकार प्रतिमा प्रतीत होतीं।

एक दिन अचानक मुझे भी माँ का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। माँ उन दिनों उद्बोधन-भवन में थीं। सुधीरा दीदी[१], जो हम लोगों की स्नेहमयी बड़ी बहन के समान थीं, प्रतिदिन स्कूल की छुट्टी के बाद माँ के पास जाती थीं। उस दिन स्कूल की छुट्टी के बाद माँ के घर जाते समय उन्होंने कई छात्राओं को अपने साथ लिया, जिनमें मैं भी एक थी। उस दिन मुझे जो आनन्द हुआ, उसे मैं कहकर नहीं समझा सकती। सारे रास्ते यही सोचते हुए जा रही थी कि माँ को देखने जा रही हूँ, उन्हें कैसे देखूँगी? माँ उद्बोधन-भवन में उसी ठाकुर- घर के सड़क की ओर के बरामदे के दरवाजे के सामने बैठी थीं। उनके चारों ओर और भी कुछ महिलाएँ बैठी हुई थीं। उनमें से एक महिला एक धर्मग्रन्थ पढ़कर माँ को सुना रही थी। पाठ के समय बीच-बीच में वे लोग पाठ्य विषय पर थोड़ी-बहुत चर्चा भी कर रही थीं, उनके साथ-साथ माँ भी दो-एक बात कह देती थीं।

सुधीरा दीदी के साथ हम लोगों ने माँ को प्रणाम किया और एक किनारे बैठ गयीं, तब माँ ने स्नेहपूर्वक सुधीरा दीदी से कहा, "ओ सुधीरा! आओ, आओ, आज बच्चियाँ भी आयी हैं!" माँ ने हम लोगों की ओर देखा, उन नेत्रों में कैसा स्नेह भरा था और उनकी वह हँसी! यदि कोई मुझसे पूछे कि मैंने उन्हें कैसा देखा था? तो मैं इसका उत्तर नहीं दे सकूँगी। मैं यहीं पर अटक जाऊँगी। वह एक अद्भुत अनुभूति थी, जिसे शब्दों में नहीं बताया जा सकता। मैं केवल इतना ही कह सकती हूँ – इतना अच्छा लगा कि मैं जितनी देर वहाँ थी, अवाक् होकर उन्हीं को देखती रही। जो महिलाएँ माँ के चारों ओर बैठी थीं, माँ मानो उन्हीं के ही समान, उन्हीं में से कोई एक जन थीं। बाहर से किसी प्रकार की महिमा या गरिमा की कण मात्र भी अभिव्यक्ति न थी, तथापि एक अपूर्व महिमा ने

१. सुधीरा बोस – भगिनी निवेदिता के विद्यालय में भगिनी की एक सहकर्मिणी, बाद में विद्यालय संचालन का भार उन्हीं पर आया। वे माँ तथा स्वामी सारदानन्द की विशेष स्नेहभाजन थीं। उनके बड़े भाई देवव्रत बोस अग्नियुग के एक प्रमुख क्रान्तिकारी और श्रीअरविन्द के एक प्रमुख सहकारी थे। मानिकतला काण्ड के अभियुक्त देवव्रत बोस ने बाद में रामकृष्ण संघ में प्रवेश लिया और स्वामी प्रज्ञानन्द कहलाये। वे कवि एवं मननशील लेखक थे। वे अग्नियुग के मुखपत्र 'युगान्तर' पत्रिका के सम्पादक थे। बाद में वे 'उद्बोधन' के भी सम्पादक रहे।

माँ को आच्छन्न कर रखा था। इतनी स्वाभाविक तथा सबके समान एक जन होते हुये भी वे पूर्णत: भिन्न थीं – ऐसा अनुभव करने में मुझे जरा भी समय नहीं लगा।

इसके बाद माँ के दर्शन के मुझे और भी कई बार अवसर मिले। उनकी सरलता और हर किसी के प्रति उनका असीम करुणापूर्ण प्रेम देखकर मुझे सर्वाधिक आश्चर्य होता, मानो वे स्नेह-प्रेम की साक्षात् प्रतिमूर्ति हों – हमारी मूर्तिमान करुणामयी माँ! लगा था कि हमारा मन सैकड़ों भूलों तथा ग्लानियों से परिपूर्ण है। और माँ मानो स्वयं ही हम लोगों के मन की ये सारी ग्लानियाँ, ये सारे ताप दूर करने के लिये करुणा से छलकते नेत्रों के साथ खड़ी हैं। उनमें किसी तरह की कोई अस्वाभाविकता नहीं है, कोई अलौकिकता नहीं है, माँ इतनी सरल हैं, मानो हमारे अपने ही घर की माँ हों। हमारे मंगल के लिये, हमारी सुख-सुविधा के लिये वे सदा ही व्यस्त रहती हैं। उनकी यह सरलता कितनी अद्भुत है! उनकी पूरी सत्ता ही मानो ठाकुर के चरणों में विलीन हो गयी है; अहंकार नाम की कोई चीज उनका स्पर्श तक नहीं कर सकती।

एक बार मैं माँ को प्रणाम करने उद्बोधन-भवन गयी थी। उसी समय एक अति वृद्ध निर्धन मैथिली ब्राह्मण दूर प्रान्त से माँ को प्रणाम करने आये थे। जब उन्हें माँ को प्रणाम करने के लिये ऊपर ले जाया गया, तब मैंने देखा कि वे वृद्ध ब्राह्मण माँ के श्रीचरणों का दर्शन कर आवेग में काँप रहे हैं और हाथ जोड़कर 'माताजी, माताजी' के सिवा और कुछ भी बोल नहीं पा रहे हैं। ब्राह्मण के प्रणाम करके चले जाने के बाद माँ ने विस्मयपूर्वक ठाकुर के चित्र की ओर इंगित करते हुए हम लोगों से कहा, "अहा, ठाकुर की कैसी अद्भुत महिमा है, केवल ठाकुर के आकर्षण से कितने दूर देश से उनके पास आया है।" ठाकुर की इस दया का स्मरण करके माँ के चेहरे पर जो आश्चर्य, विस्मय, आनन्द तथा भक्ति के भाव मैंने देखे, उसे मैं कभी नहीं भूल सकती। माँ के लिये अपने विषय में सोचने को तो वहाँ कुछ था ही नहीं।

माँ एक ओर जहाँ मूर्तिमान सरलता थीं, वहीं दूसरी ओर माँ जैसी अपूर्व विचार-बुद्धि भी कहीं देखने में नहीं आती। एक ही शरीर में वे बालिका जैसी सरल लज्जाशील कुलवधू थीं और दूसरी ओर अपराजिता शक्तिमयी भी थीं। माँ के बारे में जो कुछ पढ़ा है, उसमें अपार स्नेह से युक्त कोमल-हृदय माँ की तेजस्विता की बात पढ़कर आश्चर्य होता है। सबने जिसे बुरा कहकर त्याग कर दिया, उसे भी उन्होंने अपनी गोद में स्थान दिया है, लोगों की बातें उनके लिये पूरी तौर से तुच्छ हो गयी हैं। वे शरणागत-वत्सल हैं, जिस किसी ने उनकी शरण ली है, उसने चाहे जितना भी बड़ा गलत कार्य क्यों न किया हो, तत्काल उनकी कृपा का कण पाकर धन्य हो गया है। माँ अन्तर्यामिनी थीं, वे सबका हृदय देखती थीं, बाह्य कार्य देखकर कभी निष्कर्ष नहीं निकालती थीं।

भगिनी निवेदिता के आन्तरिक अनुरोध पर माँ एक दिन हमारे स्कूल[२] में आयी थीं। दुर्गापूजा के समय देवी को घर में लाये जाने पर हम लोग जिस प्रकार अनुष्ठान करते हैं, भगिनी ने भी उस दिन ठीक उसी प्रकार द्वार पर मंगलघट, आम का पल्लव, शीर्षयुक्त नारियल, केले के पेड़ आदि की स्थापना की थी। माँ जिस समय गोलाप-माँ आदि के साथ स्कूल के मुख्य द्वार पर गाड़ी से उतरीं, तब भगिनी ने वहीं पर घुटने टेककर उनके श्रीचरणों पर मस्तक रखते हुए उन्हें प्रणाम किया। माँ ने भी परम स्नेह के साथ उनके सिर पर हाथ रखा। उस समय भगिनी मानो अभिभूत हो उठी थीं। एक अन्य दिन भगिनी के साथ नौका में बैठकर दक्षिणेश्वर से लौटते समय शाम हो गयी। भगिनी ने उस दिन हम लोगों से कहा था – "यदि आँधी-पानी आती और नौका के डूबने जैसी हालत हो जाती, तो उस समय तुम लोगों के मन में क्या आता? खूब भय लगता न! परन्तु मैं चाहती हूँ कि तुम लोग मन-प्राण से पूर्णरूपेण माँ पर निर्भरशील होओ, बिल्कुल छोटे-से शिशु के समान – जैसे छोटा शिशु महान् विपत्ति के समय भी माँ की गोद में पड़ा हुआ निर्भय होकर हँसता है। चाहे जैसी भी परिस्थिति क्यों न हो; माँ हैं, अत: हम लोग बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करेंगे, किसी चीज से नहीं डरेंगे।"

माँ की बातों का कोई अन्त नहीं है, इसलिये माँ का लिखा हुआ एक पत्र उद्धृत करते हुए माँ की बातें समाप्त करती हूँ। माँ ने अपनी एक दीन कन्या को लिखा था – "बेटी, भगवान हृदय के धन हैं। चाहे जहाँ भी रहो, उन्हें आन्तरिकता के साथ पुकारना, जो उन्हें आन्तरिकता के साथ पुकारता है, वही उनका अपना है।"*

❖ **(क्रमशः)** ❖

२. भगिनी निवेदिता का स्कूल

* आनन्द बाजार पत्रिका में २० दिसम्बर १९५३ ई. को 'मायेर कथा' (माँ की बातें) शीर्षक के साथ यह स्मृति-प्रबन्ध प्रकाशित हुआ था। अन्तिम अनुच्छेद के पूर्व वाला अनुच्छेद लेखिका के 'भगिनी निवेदिता और उनका बालिका विद्यालय' शीर्षक निबन्ध से लिया गया है। उपर्युक्त निबन्ध १३५५ बंगाब्द के शारदीय 'आनन्द बाजार पत्रिका' में प्रकाशित हुआ था। (पुनर्मुद्रण – उद्बोधन, वर्ष ९७, संख्या ७, श्रावण १४०२, पृ. ३२१-३२२)।

नंगे फकीर सरमद

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करत हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'भूले न भुलाए' पुस्तक के कुछ अंश। – सं.)

सवा तीन सौ साल पहले की बात है। बड़े भाई दारा को मारने और पिता शाहजहाँ को कैद करने के बाद औरंगजेब, दिल्ली के सिंहासन पर बैठ चुका था। हिन्दुओं के धर्मस्थानों को तोड़ता जा रहा था, जजिया कर भी लगा दिया था। बादशाह बनने के बाद उसे गाजी बनने की धुन सवार थी।

जामा मस्जिद के सामने हिन्दू-मुसलमान और सिखों की भीड़ इकट्ठी थी। शहर में बहुचर्चित फकीर सरमद बीच में खड़ा हँस रहा था। बादशाह जुम्मा की नमाज पढ़कर बाहर आया। लोग बा-अदब खड़े होकर कोर्निश करने लगे, परन्तु सरमद उसी तरह खड़ा रहा।

बादशाह ने कहा – "सुना जाता है, तुम मुसलमान फकीर होने के बावजूद कुछ बकते रहते हो। पाक मस्जिद के सामने बेपर्द रहते हो !"

फकीर के चेहरे पर पवित्र आभा फैल गई। कहने लगा – "ऐ बादशाह, अल्लाह सब जगह मौजूद है – मस्जिद, गिरजे, मन्दिर और गुरुद्वारों में। मेरी नजर में सभी धर्मस्थान पाक है। कुफ्र तुम्हारे मौलवी बकते हैं, जो खुदा को किसी एक किताब में बन्द करके रखते हैं। तुम जो मुझे नंगा कहते हो, यह तुम्हारी बे-अक्ल की बात है। जब खुदा ने मुझे और तुम्हें इस जमीन पर भेजा था तब हम बिना विश्वास के थे, फिर अब उसके दरबार में झूठी चिलमन डाली जाय?"

औरंगजेब ने देखा, सरमद सीना तानकर बेझिझक उसके सामने खड़ा है, डर-भय का नाम भी नहीं। परन्तु वह बहुत चालाक था, आवाम के जज्बातों को पहचानता था। इतने बड़े हुजूम में अपनी तौहीन को हँसकर, गवारा कर लिया और कहा कि तुम्हारी निडरता और हाजिर-जवाबी पर हम बहुत खुश हैं। कभी तुम्हें दरबार में बुलाकर बात करेंगे। हिन्दू और सिख तो इस वाकये से बहुत खुश हुये, परन्तु कट्टर मुसलमान काजी और मुल्ला बौखला उठे; लेकिन उस समय लोगों का रूख देखकर चुप रहे।

कुछ दिनों बाद वे बादशाह के पास गये। कहने लगे – "हुजूर ! सरमद हमेशा कुफ्र बकता रहता है, पाक-कुरान को बेइज्जत करता है, वह दोजखी कीड़ा है, उसे जल्दी दुनिया से उठा दिया जाय, नहीं तो दीन-इस्लाम के बन्दों में भी कुफ्र फैलने का डर है।" औरंगजेब तो यही चाहता था कि लोगों में सरमद के लिये घृणा फैले, जिससे उसे सजाये-मौत दी जा सके। उसे गिरफ्तार करने के लिये सिपाही भेज दिये गये, पर इसी बीच वह दिल्ली से बाहर चला गया था। जहाँ भी जाता, हजारों लोग इकट्ठे हो जाते। वह कहता – "खुदा एक है, दुनिया के सब बन्दे उसे एक-से प्यारे हैं, चाहे वे किसी भी मजहब के हों। ये बँटवारे नकली हैं, खुदा के बन्दों पर जजिया लगाना उसकी बेइज्जती है।" ये बातें दिल्ली में बढ़-चढ़ कर पहुँचीं। कहीं लोगों में बलवा न फैल जाय, इसलिये एक फौजी टुकड़ी ने उस नंगे फकीर को पकड़कर, रात में दिल्ली लाकर लाल किले में बन्द कर दिया।

यद्यपि बात को पोशीदा (गुप्त) रखा गया था, परन्तु बेगमों और बादशाह की प्यारी बेटी जैबुन्निसा को फकीर की गिरफ्तारी का पता चल गया। वे उसके चमत्कारों के बारे में बहुत-कुछ सुन चुकी थी। शाहजादी बादशाह के पास जाकर कहने लगी – "अब्बा हजूर ! लोग कहते हैं सरमद पहुँचा हुआ फकीर है, उसे कैद करके आपने अच्छा नहीं किया। हम लोगों की दरख्वास्त (प्रार्थना) है कि उसे वापस उसके मुल्क – ईरान भेज दिया जाय। अगर आपका हुक्म हो तो मैं एक बार उसे समझाना चाहती हूँ, इस पर भी न माने तो फिर जो तजबीज करें, वही सजा दे दें।"

औरंगजेब को यह बात जँच गई। उसने सरमद का फैसला टाल दिया, सोचा कि कुछ दिनों में मुल्लाओं का जोश भी ठण्डा पड़ जायेगा।

शाहजादी किले के तहखाने में सरमद की कोठरी में गई। कहने लगी – "बाबा, आप पाक-साफ औलिया मुसलमान हैं, लोग आपकी इज्जत करते हैं आपकी बात मानते हैं। आपको पाक-इस्लाम के प्रचार में लगाना चाहिये, मैं आपकी हर तरह से मदद करूँगी। कट्टर मुल्लाओं से हिफाजत के लिये आपके पास हमेशा दस-बीस सिपाही और खिदमतगार रख दूँगी। अब तक आपके साथ जो सुलूक हुआ उससे लिये हम शर्मिन्दा हैं।"

सरमद हँसकर कहने लगा — "शाहजादी! जो सर्व-शक्तिमान अल्लाह की हिफाजत में है, उसे भला तुम्हारी फौज और खिदमतगारों की क्या जरूरत है? मैं न मुसलमान हूँ, न हिन्दू – बल्कि एक इंसान हूँ। शायद तुम्हें मेरी बद्दुआ का डर लगता है, परन्तु यकीन रखो, सरमद के मन में किसी के लिये बदगुमान नहीं है, वह सबका भला चाहता है। तुम इस समय मुगलिया सल्तनत की ताकतवर हस्ती हो, बादशाह तुम्हारी बात मानता है। तुम्हारा फर्ज है कि बेकस इन्सानों की तकलीफें दूर करो। अपने अब्बा से कह कर मन्दिरों और गुरुद्वारों का तोड़ना और जजिया कर तुरन्त बन्द कराओ। तुम लोगों ने खुदा को तकसीम करके छोटा बना दिया है। तुम्हारे अब्बा अगर अब भी नहीं सँभलेंगे, तो उनको जिन्दगी में कभी अमन-चैन नहीं मिलेगा। इतनी बड़ी सल्तनत कुछ वर्षों में ही नेस्तनाबूद हो जायगी।"

शाहजादी बाप से भी ज्यादा कट्टर मुसलमान थी। उसे फकीर की गुस्ताखी भरी बातों से गुस्सा आ गया। बादशाह के पास जाकर कहने लगी – "अब्बा हुजूर! ऐसा लगता है कि यह फकीर पागल नहीं है, बल्कि अव्वल दर्जे का गुस्ताख है और कुफ्र बकता है। मेरी आरजू है कि इसको जितनी जल्दी हो सके, कत्ल करा दिया जाय।" दूसरे दिन बादशाह ने फकीर को दीवान-ए-आम में बुलाया। हुक्म दिया – "ऐ फकीर! जरा कलमा पढ़कर तो सुनाओ।" सरमद ने कहा – "ला इल्लाह।" "यह तो अधूरा है, आगे के अल्फाज भी तो बोलो" – औरंगजेब ने कहा।

औरंगजेब! सरमद जिस बात पर यकीन नहीं करता, उसे कैसे कहेगा? मैं यह नहीं मानता कि मोहम्मद ही रसूल-ए-अल्लाह है (केवल मोहम्मद ही खुदा का पैगम्बर है)। मेरी समझ में तो बुद्ध, ईसा और नानक भी मोहम्मद की तरह खुदा के पैगम्बर थे।" कुफ्र की हद हो गई। सरे-आम पैगम्बर की, दूसरे काफिरों से बराबरी कर रहा है!

सरमद को वध-स्थल पर ले जाया गया। दिल्ली के हजारों लोग रो रहे थे, छाती पीट रहे थे। सरमद ने मुस्कारते हुये कहा – "दोस्तो! मंसूर का किस्सा पुराना हो गया था। मैं सूली पर चढ़ कर उसे फिर ताजा कर दूँगा।"

जब जल्लाद तलवार लेकर आया तो प्यार-भरी नजर उस पर डाल कर कहने लगा – "मेरे प्यारे! तुम आ गये" तुम किसी भी शकल में आओ, मैं तुम्हें पहचान लूँगा, क्योंकि मैं तेरे जर्रे-जर्रे से वाकिफ हूँ।"

जल्लाद एक बार तो झिझका, परन्तु फिर तलवार का वार हुआ। सरमद का सर धड़ से जुदा होकर एक तरफ लुढ़क गया।

सवा-तीन-सौ वर्ष हो गये, इस बीच बहुत से राजा, बादशाह, अमीर, उमराव आये चले गये। आज उनको कोई पहचानता भी नहीं, परन्तु जामा मस्जिद के नीचे – कोने में सरमद की साधारण-सी कब्र है, उस पर रोजाना सैकड़ों स्त्री-पुरुष प्यार और इज्जत के फूल-बताशे चढ़ाते हैं। झुक कर आदाब बजाते हैं, बाल-बच्चों के लिये दुआयें माँगते हैं।

❑❑❑

मानवता

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

जिनके मन में बसी मानवता,
उनमें शुभ भाव पला करते,
जन-शोक-निवारण में जन वे
बन धर्म-प्रदीप जला करते।

न जला करते पर-वैभव से,
न कदापि किसी को खला करते,
'मधुरेश' भले जन तो जग में
सबका बहु भाँति भला करते।।

रवि-सोम सदैव प्रभा-कर से
जग का शुभ रूप सँवारते हैं,
बहुरंग प्रसून सभी के लिये
निज सौरभ-कोष प्रसारते हैं।

जग-जीवन में जन जो भी यहाँ
शुभ मानव-धर्म को धारते हैं।
'मधुरेश' नहीं मरते जन वे,
उनको परमेश्वर तारते हैं।।

(सहकार, नवम्बर - २००६)

(म
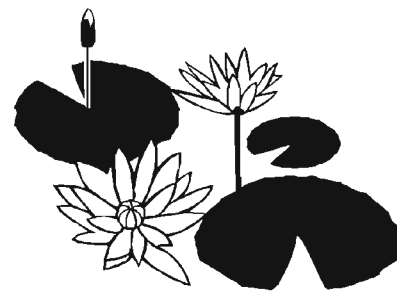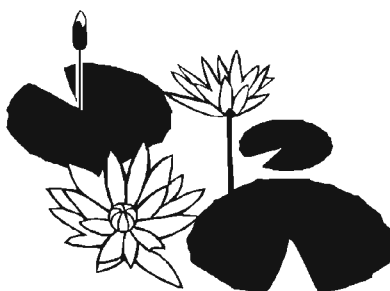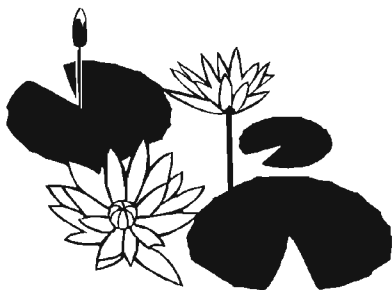
दैवी सम्पदाएँ (२२) क्षमा

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

बाईसवीं दैवी सम्पत्ति क्षमा है। महाराज मनु के द्वारा प्रतिपादित धर्म के दस लक्षणों में इसका समावेश है।[१] जैन-धर्म के दस लक्षणों में से प्रथम क्षमा है। यह सम्यक् चरित्र, सम्यक् ज्ञान दर्शन – त्रिरत्नों में से सम्यक् चरित्र का एक आयाम है। जैन-दर्शन के अनुसार यह आत्मा का स्वभाव है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा गया है। क्षमा आत्मा का अपना भाव है, इसीलिये वह धर्म है। परन्तु आत्मा में माया, क्रोध, लोभ तथा मान रूपी कषायों का समावेश हो जाता है। जब तक इन कषायों से मुक्ति नहीं मिलती, तब तक क्षमा धर्म का प्रकाश सर्वत्र नहीं फैल सकता। क्षमा रूई और कषाय अग्नि है। कषायों की अग्नि क्षमा-धर्म की रूई को जला देती है। अत: पहले इस अग्नि का शमन आवश्यक है।[२]

क्षमा एक आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक मूल्य है। समाज की आधार भित्ति है। बिना क्षमा के समाज एक पल भी नहीं चल सकता। इससे समाज का धारण होता है। वह टूटने से बचता है। अशान्ति, कलह और पारस्परिक विद्वेष की सम्भावनाएँ न्यून होती हैं। क्षमाशील होना हमारा मूलभूत गुण है। कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी जाने या अनजाने में हमारा यह गुण प्रकट होता है। हम किसी-न-किसी को क्षमा करते रहते हैं। यदि ऐसा न हो, तो न केवल हमारी अपनी शान्ति भंग होगी, अपितु समूचे समाज में द्वन्द्व फैल जायेगा। तब न कला की सृष्टि होगी और न मानवीय प्रेम की अभिव्यक्ति।

क्षमा वह भाव है, जिसमें कोई व्यक्ति अपमानित करे, गाली दे, या मारे; फिर भी उसके प्रति मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, व्यवहार में परिवर्तन न आये।[३] यह क्रोध का प्रतिबन्धक है।[४] अहिंसा, अक्रोध, दया, कृपा, करुणा, मृदुता और सहिष्णुता इसके सहकारी भाव हैं। जहाँ क्षमा है, वहाँ इनकी उपस्थिति आवश्यक है। बिना कारण अपराध करनेवाले के भी अपराधों को सहना, पीड़ा के सचेतन कारण के सामने आने पर भी क्रोध का प्रशमन करना, उसके अपकार या अमंगल की कामना न कर क्षमता होते हुये भी दण्डित न करना अहिंसा, अक्रोध तथा सहिष्णुता के आदर्श निदर्शन हैं।

अन्तस् में परस्पर-विरोधी भावों की जो आँधी उठती है, उसे सह लेना ही क्षमा है – **क्षमा द्वन्द्व-सहिष्णुत्वम्** – यह सात्त्विक भाव है। मन में सत्त्वोद्रेक होने पर ही इसका उदय होता है। यह दम है। आत्मनिग्रह और आत्म-संयम से इसका आविर्भाव होता है। विनम्रता एवं मृदुता इसकी सहचरी हैं। इन दोनों की उपस्थिति में मान नहीं होता। वह गल जाता है। पानी-पानी होकर बह जाता है। जब मान नहीं होता, तो मृदुता की शीतल धवल चन्द्रिका हृदय के आँगन में उतर आती है। कोने-कोने से सुमधुर व्यवहार की रेखाएँ फूट पड़ती हैं। मृदुता के इस अस्त्र से कौन नहीं कटता? सब साध्य है इसके लिये –

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यां मृदुना किंचित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु ।।

अपेक्षाओं का अभाव क्षमा है। अपेक्षाएँ मन को उद्वेलित करती हैं। लोभ, मान तथा क्रोध अपेक्षाओं को जन्म देते हैं। इनका निर्वीजीकरण ही क्षमा का रूप है। सामान्य भाषा में – 'क्रोध मत करो' – कहे गये वाक्य का अर्थ होता है – 'क्षमा करो'। क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं है, विभाव है, अधर्म है। दैवी सम्पत्तियों में अक्रोध के साथ क्षमा को अलग से इसलिये रखा है कि इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। क्षमा में अपराधी को दण्ड से मुक्त करने का भाव है, जबकि अक्रोध में अपने से भीतर यह चेष्टा होती है कि हमारे मन में क्रोध न हो। प्रथम में किसी प्रकार की विक्रिया उत्पन्न ही नहीं होती। द्वितीय में विक्रिया तो होती है, परन्तु इसका शमन करना पड़ता है। एक में मन शान्त सरोवर की भाँति रहता है, तो दूसरे में उत्ताल तरंगों से युक्त जलधि के समान।

महाभारत में महर्षि वेदव्यास ने क्षमा की मुक्त कण्ठ से

१. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्म-लक्षणम्।। (मनुस्मृति)

२. 'धर्म के दस लक्षण', डॉ. हुकुमचन्द भारिल्ल

३. गीता, अध्याय १६, श्लोक ३ पर आचार्य शंकर का भाष्य

४. क्षमा परिभवादिषु उत्पद्यमानेषु क्रोध-प्रतिबन्धः। (श्रीधराचार्य)

प्रशंसा की है। उन्होंने इसे यश, दान, यज्ञ, दम, अहिंसा, धर्म, इन्द्रिय-निग्रह और दया कहा है। क्षमा के द्वारा ही यह जगत् धारित है। क्षमा से युक्त ज्ञानी देवरूप है और क्षमाशील मनुष्य ही श्रेष्ठ ज्ञानी है –

क्षमा यशः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा दमः
क्षमाऽहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः ।।
क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमयैव धृतं जगत् ।
क्षमावान् ब्राह्मणो देवः क्षमावान ब्राह्मणो नरः ।।
(आश्वमेधिक पर्व ९२/–)

क्षमा तेजस्वियों का तेज और तपस्वियों का ब्रह्म है। वह सत्यव्रतियों का सत्य, याज्ञिकों का यज्ञ तथा योगियों का शम है। वह ज्ञान, तप, शौच, भूत और भविष्यत् है –

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यवतां सत्यं क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ।।

* * *

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदा क्षमा श्रुतम् ।
य एतदेवं जानाति सर्वं क्षन्तुम्-अर्हति ।।

* * *

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ।।
(वनपर्व, २५/३६-४२)

विदुरजी ने क्षमा की श्रेष्ठता बताते हुये धृतराष्ट्र से कहा – "तात, समर्थ पुरुष के लिये सब जगह और सब समय क्षमा के समान हितकारी तथा अत्यन्त श्री सम्पन्न बनानेवाला उपाय दूसरा नहीं माना गया है। जो शक्तिहीन है, वह तो क्षमा करे ही; जो शक्तिमान है, वह भी धर्म के लिये क्षमा करे और जिसकी बुद्धि में अर्थ तथा अनर्थ दोनों समान है, उसके लिये तो क्षमा सदा ही हितकाारिणी होती है।[५]

अक्षमा का प्रादुर्भाव लोभ से होता है – **अक्षमा लोभात् प्रवर्तते**। लोभ से कामनाएँ उठतीं हैं और उनमें विघात होने पर उसके सचेतन कारण को दण्ड देने की भावना आती है। सच्ची क्षमा वह है, जो स्वार्थ, ममता एवं भय पर आधारित नहीं है। पिता पुत्र को क्षमा करता है, अपराधी पुलिस के दुर्व्यवहार को, छोटा गुण्डा बड़े गुण्डे की धौंस को और भृत्य अपने स्वामी की झिड़कियों को जिस सहज भाव से सहता है, उसमें क्षमा का सात्त्विक रूप नहीं है। इसी प्रकार यदि अपराधी अपने अपराध के लिये प्रायश्चित के रूप में क्षमा-याचना करता है, तब तो वह प्रशंसनीय है, परन्तु यदि वह दण्ड के भय से क्षमा माँगता है, तब वह ढोंग और प्रवंचना है। क्षमा क्षमाकर्ता के हृदय की विशालता, नि:संगता, साहस और दृढ़ता की अभिव्यक्ति है। उसमें किसी प्रकार का अहं नहीं है। यह इकहरी प्रक्रिया है अर्थात् क्षमावान को अपनी क्रिया के अनुकूल प्रतिक्रिया की अपेक्षा के बिना ही क्षमा करनी चाहिये। उसे सबल तथा शक्तिमान तो होना ही चाहिये। निर्बल की क्षमा विवशता है। परन्तु वही वीर का आभूषण है – **क्षमा वीरस्य भूषणम्**।

माता धरित्री क्षमा की प्रतिमूर्ति हैं। उसके हृदय पर हम न जाने कितने उत्पात करते हैं, किन्तु फिर भी वे हमें क्षमा करती हैं। धन-धान्य से समृद्ध बनाती हैं। यों तो नारी के सभी रूप क्षमा के जीवन्त प्रतीक हैं, परन्तु माता का रूप तो क्षमा का सजीव अवतार है। वे हमारे अगणित अपराधों को क्षमा करती हुई, पाल-पोष कर हमें बड़ा करती हैं। महात्मा ईसा, महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी और गुरु नानक आदि ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने जीवन को क्षमा-व्रत से दिव्यता प्रदान करके समाज के लिये अनुकरणीय मानदण्ड स्थापित किये। भगवान श्रीराम के विजय-रथ में बल, विवेक, दम और परहित के जो घोड़े जुते हैं, वे क्षमा, कृपा तथा समता की रज्जु से बँधे हुए हैं –

बल बिबेक दम परहित घोरे ।
छमा कृपा समता रजु जोरे ।।

बल का नियंत्रण क्षमा के अंकुश से होता है। यह उसका भूषण है। जिसके हाथ में क्षमा शस्त्र है, दुर्जन उसका क्या करेगा? ईंधन के बिना अग्नि स्वयं शान्त हो जाती है –

क्षमा शस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वमेव प्रशाम्यति ।।

क्षमा-दान तो महान् है ही, अपने अपराध के लिये क्षमा माँग लेना भी कम गरिमामय नहीं है। इससे न तो बड़प्पन में कमी आती है और न छुटपन को ठेंस पहुँचती है। यह एक सामान्य शिष्टाचार भी है। यदि कहीं किसी को अनजाने में हाथ पैर लग जाता है, तो क्षमा माँगते हैं। हमने किसी को मिलने का समय दिया है और हम नहीं पहुँच सके, वचनों का निर्वाह नहीं हो सका, या ऐसा कोई भी कृत्य जो वैयक्तिक गरिमा या सामाजिक मर्यादा के विपरीत है, उसमें किसी को मानसिक या शारीरिक आघात होता है, तो क्षमा-याचना हमारी सभ्यता एवं शिष्टता का परिचायक है। इससे यह प्रमाणित होता है कि हम व्यष्टि एवं समष्टिगत दायित्वों के प्रति कितने जागरूक हैं, हमारे संस्कार कितने प्रबल तथा उदात्त हैं और सामाजिक चेतना कितनी विकसित है! जैन समाज में एक पर्व ही मनाया जाता है – क्षमा-वाणी पर्व। इस पर्व पर लोग एक दूसरे से पूरे वर्ष के अपराधों के लिये क्षमा माँगते हैं। बड़ा अच्छा पर्व है। भावना बड़ी उत्कृष्ट है। इससे समाज को कुछ गति और कुछ संस्कार तो मिलते हैं।

साधु की क्षमा लोक-व्यवहार से भिन्न है। वह मानवीय आदर्श, आध्यात्मिक उच्चता और धार्मिक श्रेष्ठता से सम्बद्ध

५. महाभारत, उद्योगपर्व ३९/५९-६९; द्र. 'महाभारत में धर्म' – डॉ. शकुन्तला रानी तिवारी, भारती पुस्तक मन्दिर, चौबुर्जा भरतपुर (राज.)।

है। यह हमारे जीवन का उच्चतम प्राप्तव्य है। साधु पात्रता और अपात्रता पर भी विचार नहीं करता। उसके क्षमा की कोई सीमा नहीं है। वह जल में बहते बिच्छू को भी सौ बार उठाकर निकालता है, चाहे वह हर बार डंक क्यों न मारे! भगवान कृष्ण ने शिशुपाल को निन्यानवे बार क्षमादान दिया था और पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गौरी पर अनेक बार क्षमा की, पर परिणाम शुभ नहीं मिला। समाज में साधु-असाधु सब तरह के लोग होते हैं, इसलिये क्षमा का भाव जहाँ समाज को धारण करता है, वहीं वह सामाजिक मर्यादाओं को आघात भी पहुँचा सकता है। उदाहरण के लिये यदि एक न्यायाधीश अपराधी को क्षमा करता रहे, तो उसका यह कर्तव्य लोक-दायित्वों का निर्वाह नहीं है। लोक-मर्यादा के पालनार्थ उसे अपराधी को दण्ड देना ही होगा। इसमें उसकी निजी भावनाओं का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि वह कर्मणा एवं वचसा सामाजिक मर्यादाओं के संरक्षण के लिये लोकार्पित और प्रतिबद्ध है। यद्यपि सन्त भी सर्वात्मना लोक-समर्पित हैं, किन्तु वे निजी पीड़ा को पीड़ा नहीं मानते और उनका हृदय प्रतिशोध के अनल से दग्ध नहीं होता।

क्षमा और दण्ड का सन्तुलन क्या हो – इसका निर्धारण लोकनीति पर आधारित राजनीति करती है। अतएव महाभारत में इस प्रश्न को अनूठे ढंग से उठाया गया है। एक बार दानवराज बलि ने अपने पितामह प्रह्लादजी से पूछा – "हे पितामह! क्षमा और दण्ड में से श्रेष्ठ कौन है?" प्रह्लादजी ने उत्तर दिया – "हे तात! न तो दण्ड ही सदा श्रेष्ठ है और न क्षमा ही। जो सदा क्षमा ही करता है, उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं। अधिक क्षमाशील के भृत्यगण भी उसका अपमान करते हैं। इस संसार में सेवकों के द्वारा किया जानेवाला अपमान मृत्यु से भी अधिक निन्दित है। क्षमाशील को उसके सेवक, पुत्र, भृत्य तथा उदासीन वृत्ति के लोग, शत्रु और यहाँ तक कि उसकी स्त्री भी कटु वचन सुनाया करती है। क्षमाशील को ये तथा अन्य भी बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं। इसलिये क्षमा श्रेष्ठ गुण होते हुए भी कहीं-कहीं दोष का कारण हो जाता है। क्षमा न्यायाधीश के लिये दोष है, तो विद्वान् और साधु पुरुषों के लिये गुण।"[६]

क्षमा और दया में अन्तर है। दया में दयनीय जीवन की दुर्बलता और आश्रयता का भाव-बोध होता है, जबकि क्षमा में क्षम्य की बलशीलता, अहंकारिता और अभिमान का। क्षमा का पूर्वाधार अक्रोध है। क्रोध होने पर क्षमा करना सम्भव नहीं है। क्रोध एक विकार है, तो क्षमा एक विचार। जहाँ विकार होगा, वहाँ विचार सम्भव नहीं। क्षमा अहिंसा का रूप है। जिस पर क्षमा की जाय, उसका किसी प्रकार से

६. महाभारत, वनपर्व, २१वाँ अध्याय

अमंगल न सोचना, अवसर पाकर प्रतिशोध न लिया जाना और मन में अप्रसन्नता, पराजय का अनुभव तथा सम्बन्धों में उदासीन वृत्ति न बरतना सच्ची क्षमा है; पूर्ण अहिंसा है। गीता माता सच्ची, निरपेक्ष और पूर्ण सात्विक क्षमा की ही अपेक्षा करती हैं।[७]

क्षमा किन-किन अवसरों पर की जाय? इसके लिये कुछ निर्देशक सिद्धान्त महर्षि व्यास ने इस प्रकार बताये हैं –

(१) जिसने पूर्व में अपना उपकार किया हो और वह अपकार कर बैठे।

(२) जिसने अनजान में अपराध किया हो।

(३) एक अपराध तो सभी का क्षम्य होना चाहिये। दूसरे पर थोड़-सा-दण्ड दिया जाय।

(४) बलाबल पर भी विचार करना चाहिये। इसके उपरान्त ही दण्ड दिया जाना अपेक्षित है।

(५) देश-काल की परिस्थितियों पर विचार जरूरी है।

(६) लोक-भय से भी कभी-कभी अपराधी को क्षमा करना चाहिये।

क्षमा के जिस उच्च रूप का उदाहरण साधु प्रस्तुत करते हैं, उसे लोकनीति या राजनीति अपना आदर्श बनाने में अक्षम है। अनन्त आकाश का दर्शन घट या कक्ष में सम्भव नहीं है, इसके लिये तो उन दोनों के घेरों को तोड़ना होगा, तभी तो महाकाश के व्यापकत्व की अनुभूति हो सकती है। क्षमा का क्षितिज हमारी दृष्टि की सीमा से आगे तक फैला है, इसे स्वीकार करने में ही हमारी दृष्टि की सार्थकता है। महाभारत में इस अनेकान्त सत्य को सहर्ष स्वीकार किया गया है। इसीलिये क्षमा का उदात्त पक्ष महर्षि व्यास ने प्रस्तुत कर साधना के पथ पर किसी प्रकार के विश्राम-गृह का निर्माण नहीं किया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि यह मार्ग दुरात्मा का नहीं है। इस पर साधु-पुरुष ही चल सकते हैं। यह आर्ष विधि है। इससे अपनानेवाला ही सुखी हो सकता है। जो पापी-अधम को भी श्रेष्ठ और अपने बराबर वाले के सामने ही गाली खाकर भी क्षमा करता है, वह सिद्धि को प्राप्त करता है। क्षमा अशक्तों का बल और सशक्तों का आभूषण है। क्षमा वशीकरण मंत्र है। उससे क्या सिद्ध नहीं होता। क्षमाशील का अपमान इन्द्र के द्वारा भी नहीं होना चाहिये। क्षमा से ऊर्ध्वगति एवं ब्रह्म के समान लोकों की प्राप्ति होती है। जितेन्द्रिय पुरुष नित्य क्षमा का आचरण करे।
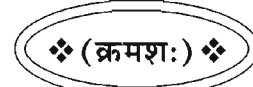
७. "जीवन मूल्य" भाग-२ पृ. १०४ ; महाभारत, शान्तिपर्व, २३०.८; वही. १२.१७; वही, २१५.६; वही, २९९.१८; वही, १६२.१४

ठाकुर का रोग

डॉ. नरेन्द्र कोहली

(श्रीरामकृष्ण के जीवन की इस घटना का वर्णन स्वामी निखिलानन्द द्वारा लिखित 'विवेकानन्द : एक जीवनी', पृ. ६० में प्राप्त होता है। इस घटना को सुप्रसिद्ध कथाकार श्री नरेन्द्र कोहली ने अति सुन्दर रूप कथा के रूप में जीवन्त प्रस्तुति की है। – सं.)

नीचे के बड़े कमरे में काली, शशि, राखाल, शरत्, बाबूराम, योगीन, तारक तथा छोटा गोपाल – सब एकत्रित थे और चुपचाप बैठे एक-दूसरे का चेहरा देख रहे थे। उनके चेहरों पर एक अनाम चिन्ता छा-सी गई थी और उनके आसपास भय का वातावरण था।

नरेन्द्र को देखते ही उन लोगों में हल्की-सी सुगबुगाहट जागी। सबकी आँखें उनकी ओर उठीं और राखाल ने अत्यन्त क्षीण स्वर में कहा – "लो, नरेन्द्र आ गया।"

नरेन्द्र उनके निकट आये। उन लोगों ने पुनः उन्हें देखा-भर। उनके स्वागत में कुछ भी नहीं कहा। न उनके चेहरों पर खुलकर उल्लास झलका और न ही किसी ने उसे उसकी अनुपस्थिति में घटी घटनाओं की सूचना देने की आतुरता दिखाई।

नरेन्द्र के लिए उन सबका यह व्यवहार काफी असहज था – "क्या बात है?"

"कुछ भी तो नहीं" – राखाल बोले – "हम लोग तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। अच्छा हुआ, तुम आ गए।"

नरेन्द्र क्षण-भर में ही समझ गये कि राखाल सच नहीं बोल रहा है। "क्या रे गुजू!" नरेन्द्र ने उनकी बाँह पकड़ी – "तुझे ढंग से झूठ बोलना नहीं आता, तो झूठ बोलता ही क्यों है?"

– "कौन झूठ बोल रहा है?' राखाल कुछ आवेश में बोले – "ऐसी तो कोई बात नहीं है, जो तुम्हारे यहाँ पाँव धरते ही तुमको तत्काल बताई जाए।"

"तत्काल न सही" – नरेन्द्र हँसे –"बैठ जाऊँ, सुस्ता लूँ, तो बताने के लिए कुछ है।"

"कुछ न कुछ तो होता ही है" – काली ने बात सँभाली – "डॉक्टर आया था। ठाकुर को देख गया है। अब तुम आए हो, तो तुम्हें बताया ही जाएगा कि वह क्या कह गया है, ठाकुर का स्वास्थ्य कैसा है, आदि आदि।"

नरेन्द्र बैठ गये। उन्होंने बारी-बारी से उन सबके चेहरों को देखा : थोड़ी देर पहले तक जो लोग उन्हें चिन्तित-से लगे थे, वे अब जैसे अपराधियों के समान आत्मस्वीकृति में सिर झुकाए उनके सामने खड़े थे। वे लोग कुछ-न-कुछ तो छिपा ही रहे थे ... पर क्या छिपा रहे थे? कोई ऐसी बात, जो उन सबसे सामान्य रूप से सम्बद्ध थी ... किसी एक का रहस्य नहीं था वह। पर क्या? क्या वह नरेन्द्र के विषय में कोई बात थी? पर नरेन्द्र के विषय में ऐसी कौन-सी बात हो सकती है, जो उन्हें मालूम नहीं थी और वे लोग जान गए थे? नहीं, उनके विषय में ऐसा कुछ नहीं हो सकता था। तो ठाकुर के विषय में?

– "ठाकुर का स्वास्थ्य कैसा है?" – उसने सहसा अकबका कर पूछा।

– "ठीक है" – राखाल कुछ अटपटाये – "मेरा अभिप्राय है कि वैसा ही है, जैसा तुम छोड़कर गए थे।"

– "वे इस समय कष्ट में तो नहीं हैं?"– नरेन्द्र ने पूछा।

– "नहीं। विश्राम कर रहे हैं" – शरत् ने बताया।

– "उनके पास कौन है?"

– "लाटू और गोपाल दादा।"

सहसा नरेन्द्र के मस्तिष्क में एक नई बात कौंधी – "डॉक्टर ने क्या कहा है? डॉक्टर ने उनके रोग के विषय में कोई नई बात बताई है?"

– "नहीं। डॉक्टर ने तो कहा है कि उन्हें गले का कैंसर है, जिसे वैद्य लोग संग्रहणी कहते हैं" – शरत् बोले – "वह तो तुम जानते ही हो।"

"यह मैं जानता हूँ" – नरेन्द्र बोले – "यह भी जानता हूँ कि यदि यह असाध्य नहीं, तो दुःसाध्य अवश्य है। यह भी जानता हूँ कि बहुत सम्भव है कि ठाकुर अपनी लीला का संवरण ही कर रहे हों, पर डॉक्टर ने नया ऐसा क्या कहा है, जिससे तुम लोग चिन्तित और भयभीत हो?"

– "ठाकुर के विषय में डॉक्टर ने नया ऐसा कुछ भी नहीं कहा है" – राखाल जल्दी से बोले।

– "तो किसके विषय में कहा है?"

– "हम लोगों के विषय में" – योगीन के कण्ठ से पहली बार वाणी फूटी।

– "अच्छा, डॉक्टर तुम लोगों का परीक्षण कर किसी ऐसे रोग का निदान कर गए हैं, जिसने तुम्हें डरा दिया है!" – नरेन्द्र खुलकर हँसे – "तुम सब लोगों को एक ही रोग है क्या?"

उन सबके चेहरों पर खीज उभरी – नरेन्द्र उनकी असहाय अवस्था का उपहास कर रहे हैं!

– "हँसो मत। इसमें हँसने की क्या बात है?' – सहसा

राखाल कुछ क्रुद्ध होकर बोले – "यदि हम चिन्तित अथवा भयभीत हैं, तो उसका कोई कारण भी तो होगा।"

– "तब से कारण ही तो पूछ रहा हूँ" – नरेन्द्र बोले – "मुझी से छिपा रहे हो और मुझ पर ही रौब भी जमा रहे हो। और फिर कहते हो, हँसो मत। खीझना तो मुझे चाहिये और खीझ तुम लोग रहे हो।"

– "हम कुछ भी छिपा नहीं रहे" – शरत् कुछ सहज होकर बोले – "संयोग ही था कि तुम यहाँ नहीं थे और डॉक्टर वह बात हम से कह गए। अब ...।"

– "अब क्या?" – नरेन्द्र के स्वर में पहली बार गम्भीर जिज्ञासा उभरी।

"वह बात हम अपने मुख से कहना नहीं चाहते" – शशि ने मुख दूसरी ओर कर लिया, मानो वह नरेन्द्र का सामना न करना चाहता हो – "पर तुमको बताए बिना तो काम चलेगा नहीं।"

– "क्या बात है?" – नरेन्द्र पूर्णत: गम्भीर था।

"डॉक्टर ने कहा है" – राखाल क्षण-भर को रुके और फिर जैसे साहस बटोरकर बोल गये – "ठाकुर का रोग छूत का रोग है। उनकी सेवा करनेवालों को भी यह रोग हो सकता है। इसलिए हम सबको सावधान रहना चाहिए।"

नरेन्द्र स्तब्ध-अवाक् बैठे रह गये – "यह सब कैसे कह दिया डॉ. महेन्द्रलाल सरकार ने? डॉक्टर के रूप में उन्हें जानना चाहिए कि कैंसर छूत का रोग नहीं है। यदि वे इतना भी नहीं जानते, तो वे कैसे डॉक्टर हैं?" नरेन्द्र का आवेश मानो उनके सिर चढ़ा। इच्छा हुई कि चिल्लाकर कहें – "डॉक्टर सरकार या तो अज्ञानी हैं, या फिर मिथ्यावादी। कैंसर छूत का रोग नहीं है। ठाकुर के निकट सम्पर्क से, उनकी सेवा करने से, अथवा किसी भी अन्य प्रकार से किसी की कोई हानि नहीं हो सकती। ये बुद्धू लोग क्या इतना भी नहीं समझते कि ठाकुर जैसे मनुष्य दूसरों का रोग, शोक और पीड़ा स्वयं ग्रहण कर लेते हैं – अपनी पीड़ा वे किसी को नहीं देते। वे अन्य जनों की पीड़ा हरने के लिए ही संसार में आते हैं, किसी को पीड़ित करने के लिए नहीं।"...

परन्तु नरेन्द्र के मुख से वाणी नहीं फूटी। यदि वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ठाकुर का रोग छूत-रोग नहीं है, अत: उनके शिष्यों को उनकी सेवा करते हुए डरना नहीं चाहिए, तो क्या इसका अर्थ यह नहीं होगा कि यदि ठाकुर का रोग छूत का रोग हो, तो उन्हें ठाकुर से दूर रहना चाहिए?... ठाकुर के प्रति उन लोगों का स्नेह, प्रेम और भक्ति क्या तभी तक है, जब तक उन लोगों को उनसे कोई भय नहीं है, क्षति की आशंका नहीं है? अपने गुरु के प्रति यह कैसा प्रेम हुआ? यह क्या ठाकुर के स्नेह का प्रतिदान हुआ? और यदि वे कुछ नहीं कहते, तो वे लोग यही समझेंगे कि वे भी डॉक्टर से सहमत हैं कि ठाकुर का रोग छूत-रोग है। सम्भव है ऐसे में कुछ लोग भय के कारण ठाकुर का संग छोड़ जाएँ। कुछ लोग सेवा तो करें, किन्तु अत्यन्त सावधान होकर, जिसमें स्नेह का प्रकाश ही न रहे। जो भयभीत नहीं होगा, वह शहीदी मुद्रा अपनायेगा, वह यह मानकर चलेगा कि वह संसार का असाधारण त्यागी पुरुष है, जो ठाकुर के लिए अपने प्राण न्योछावर कर रहा है। वह ठाकुर पर कृपा करने का भाव अंगीकार करेगा। उसके मन में न आशा होगी, न उल्लास ...।

तो क्या कहें नरेन्द्र?... कहने के साथ तो संकट जुड़े ही हुए हैं। न वे यह कह सकते हैं कि सेवा करनेवालों के लिए कोई संकट नहीं है, इसलिए सेवा की जाए, न वे कह सकते हैं कि संकट है, तो भी वे लोग ठाकुर की सेवा करें।

मित्रों को आशा थी कि उनकी बात सुनकर, नरेन्द्र तड़प कर कुछ कहेंगे। भले ही वे इस सूचना का खण्डन करें या मण्डन, उन्हें डाँटे या उनसे प्रार्थना करें, किन्तु नरेन्द्र उनमें उत्साह और कर्मण्यता तो भरेंगे ही। उन्हें सांत्वना देंगे, साहस बँधायेंगे, उन लोगों का कर्म तथा उल्लास लौटायेंगे...

किन्तु नरेन्द्र तो उनके सामने स्तब्ध बैठे थे – मौन-मूक।

सहसा नरेन्द्र के प्राण मानो किसी निन्द्रा से जागे – "आओ, मेरे साथ।"

– "कहाँ?"– मानो सबने अनायास ही एक साथ पूछा।

– "जहाँ भी मैं ले जाऊँ" – नरेन्द्र लीलापूर्वक हँसे।

– "इसका क्या अर्थ?" – काली ने पूछा।

– "इसका अर्थ है, मेरे प्रति अपने विश्वास और प्रेम का प्रमाण दो" – नरेन्द्र हँसे – "मेरा विश्वास करो, संसार का कोई चिकित्सक अपने संशय में भी नहीं कह सकता कि मुझे छूत का कोई रोग है।"

–"तुम हम पर व्यंग्य कर रहे हो"– शशि तड़पकर बोले –"तुम समझते हो कि एक तुम्हीं ठाकुर से प्रेम करते हो?"

– "कौन कह रहा है कि मैं ठाकुर से प्रेम करता हूँ? मैं तो कह रहा हूँ कि तुम लोग मुझसे प्रेम करते हो, अत: मुझ पर विश्वास करते हो" – नरेन्द्र ने कहा – "प्रश्न ठाकुर के प्रति तुम्हारे प्रेम का है।"

नरेन्द्र चल पड़े।

अन्य सब लोग अपने स्थान पर ही खड़े रहे – न जाने नरेन्द्र कहाँ जा रहे हैं और क्या करना चाहते हैं। पर न तो नरेन्द्र रुके और न ही उन्होंने पलटकर देखा कि कोई उनके साथ आ रहा या नहीं। वे न संशय में थे, न द्वन्द में। उनके दृढ़ पग सीढ़ियाँ चढ़ते जा रहे थे और वे प्रति क्षण उन लोगों से दूर होते जा रहे थे।

राखाल ने सबसे पहले पहचाना... यह नरेन्द्र की दुस्साहसी मुद्रा थी। वे नरेन्द्र को पहचानते थे। नरेन्द्र की यह मुद्रा ! कहीं नरेन्द्र अपने लिए कोई संकट ही मोल न ले ! अपनी सुरक्षा की बात तो बाद में आयेगी, पहले तो नरेन्द्र की सुरक्षा का प्रश्न है।

राखाल एक प्रकार से नरेन्द्र के पीछे भागे। इस तेजी से शायद उन्होंने कभी भी सीढ़ियाँ नहीं फलाँगी थीं। राखाल के पीछे काली भागे, उनके पीछे शशि और फिर सब ही एक साथ चल पड़े। उन्हें प्रत्येक दशा में नरेन्द्र के साथ रहना था। नरेन्द्र उनका अहित नहीं कर सकते। उन लोगों को उन पर विश्वास करना ही था।

ऊपर पहुँचकर नरेन्द्र ठाकुर के कमरे की ओर चल पड़े। उन्होंने अब भी पीछे मुड़कर नहीं देखा था, पर उनका यदि थोड़ा भी ध्यान अपने मित्रों की ओर था, तो वे उनके पगों की आहट को सुन सकते थे। वे लोग उनके पीछे-पीछे आ रहे थे। वे जानते थे कि वे लोग उनका साथ नहीं छोड़ सकते।

ठाकुर के कमरे के किवाड़ खुले हुए थे। नरेन्द्र द्वार पर रुके, फिर झाँककर भीतर देखा। ठाकुर शायद दोपहर का भोजन करने के बाद विश्राम कर रहे थे। वे सीधे लेटे हुए थे और उनकी आँखें मुँदी हुई थीं। उनके अधरों पर ऐसी मुस्कान थी मानो कोई छोटा बच्चा दूसरों को छकाने के लिए आँखें मूँद सोने का अभिनय भी कर रहा हो और अपनी मुस्कान से अपने अभिनय का भ्रम भी तोड़ रहा हो।

लाटू एक ओर दीवार के पास आसन बिछाए, ध्यान की मुद्रा में बैठे थे, किन्तु उनकी आँखें मुँदी हुई नहीं थीं। वे एकटक ठाकुर की ओर निहार रहे थे।

नरेन्द्र ने हाथ के संकेत से उन्हें बाहर बुलाया। लाटू नि:शब्द उठे और दबे पाँव आकर उनके पास खड़े हो गये। उनकी आँखें नरेन्द्र की ओर उठीं – "क्या है?"

"ठाकुर ने कुछ खाया?" – नरेन्द्र ने पूछा।

"हाँ, खाया" – लाटू ने मुँह बनाया – "पर क्या खाया? श्रीमाँ ने इतने जतन से लपसी जैसा नमकीन दलिया बनाया था, ताकि ठाकुर यदि खा न सकें, तो सटक ही लें। पर वे तो खाते क्या, चबाते क्या, सटक भी नहीं सके।"

– "अरे, खाया कि नहीं – यह बता।"

– "खाने लगे तो कण्ठ में कुछ जाय अटका। खाँसी उठी और कौन जाने क्या भीतर गया, क्या बाहर आया" – लाटू बोले – "हमें तो एही लगा कि कण्ठ के नीचे कम गया, कण्ठ के ऊपर ही अधिक आया।"

– "उलटी हो गई?" – नरेन्द्र ने पूछा।

– "नाहीं। उलटी काहे होई" – लाटू बोले – "बस उच्छू होई गया।"

– "देख, दर्शन मत झाड़" – नरेन्द्र बोले – "ठीक से बता कि उन्होंने कुछ खाया कि नहीं।"

– "हम जो देखे, सो बता दिया" – लाटू बोले – "अब इसको खाना कहेंगे कि नाहीं कहेंगे – ई आप जानो।"

– "तेरे हिसाब से तो ठाकुर ने कुछ खाया ही नहीं" – नरेन्द्र बोले – "फिर वे सो कैसे रहे हैं?"

"अब ई तो महाराज ही जानें" – लाटू बोले – "हमसे बोले कि विश्राम करेंगे।" लाटू ने रुककर ठाकुर के पलंग के नीचे पड़े एक प्याले की ओर तर्जनी उठाई – "देखो, ऊ पड़ा है प्याला। उसमें जो कुछ है, उससे पता चल जाएगा कि कितना खाए और कितना उगले।"

नरेन्द्र ने अपने मित्रों पर एक दृष्टि डाली। वे सब उसके काफी निकट थे और लाटू की बात पूरे ध्यान से सुन रहे थे।

"ला तो, वह प्याला" – नरेन्द्र ने लाटू से कहा – "देखें, ठाकुर ने क्या खाया है और क्या उगला है।"

लाटू दबे पाँव कमरे में गया और वह प्याला उठा लाया। ठाकुर ने इस बीच न आँखें खोली थीं, न करवट बदली थी। नरेन्द्र ने लाटू से वह प्याला ले लिया। क्षण-भर प्याले को देखा और लाटू से पूछा – "तू अच्छी तरह जानता है न कि ठाकुर ने इसी प्याले को अपने होंठों से लगाया था और यह दलिया उन्हीं के खाने का उच्छिष्ट है?"

– "लो, सुनो नरेन्द्र बाबू की बातें !" – लाटू के होंठ हँसी की मुद्रा में फैले – "हम अपने हाथों महाराज को ई प्याला दिए। खाँसी हुई तो अपने हाथों महाराज को सहारा देकर ई प्याला पकड़े। सब लोग दुखी होकर लौट गए कि महाराज कुछ खा नहीं पाए।"

– "अच्छा, ठीक है।"

इससे पहले कि कोई कल्पना भी कर सकता कि नरेन्द्र क्या करने जा रहे हैं, उन्होंने वह प्याला अपने होंठों से लगा लिया और मानो एक ही घूँट में सारा दलिया सटक गये।

राखाल का हाथ उठा, किन्तु वे नरेन्द्र की कलाई थाम नहीं पाये; शशि के होंठ हिले, किन्तु उससे शब्द नहीं फूटे। काली का पग उठा, किन्तु वे आगे नहीं बढ़े।

नरेन्द्र ने प्याला लाटू के हाथ में पकड़ाया और अपने मित्रों की ओर मुड़े – "अब हममें ठाकुर के रोग के छुआछूत की कोई चर्चा नहीं होगी।" ❑❑❑

रायपुर की नगरमाता : बिन्नीबाई सोनकर
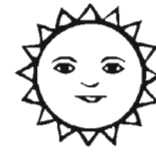
श्रीमती बिन्नीबाई सोनकर का जन्म १९२८ में रायपुर में हुआ था। आप बचपन से ही बड़ी दयालु तथा समाज-सेवी स्वभाव की रही हैं। करीब १९८० ई. में आपने पुरानी बस्ती सोनकर-पारा में एक शिव-मन्दिर और १९८५ ई. में रामकुण्ड मुहल्ले में २.५० लाख रुपयों की लागत से एक पाठशाला का निर्माण कराया। १९९५ ई. में मेकाहारा (मेडिकल कॉलेज हास्पीटल, रायपुर) में मरीजों के परिवारजनों या सहायकों के लिए कोई आश्रय-स्थल के रूप में एक धर्मशाले के निर्माण हेतु १० लाख रुपये देने की घोषणा की।

प्राय: प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से ही संग्रह की वृत्ति दीख पड़ती है, परन्तु दानवृत्ति काफी कम लोगों में देखने में आती है। दानवृत्ति उन्हीं में होती है, जो परपीड़ा से द्रवित और कातर हो उठते हैं। जो परपीड़ा को अपनी पीड़ा महसूस करने लगते हैं। तब उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए धन संग्रह करके रखने की इच्छा नहीं होती। वे सोचने लगते है कि मेरा जीवन तथा धन दूसरों की पीड़ा को कम करने लग जाय। जो कुछ मेरे पास है, वह सब मैं जरूरतमंदों में बाँट दूँ। उन्हें उसी में आनन्द आता है। ऐसे ही लोगों के विषय में संत कबीर ने कहा है –

पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ।।

श्रीमती बिन्नीबाई सोनकर ने ऐसी ही बुद्धिमत्ता का काम कर दिखाया। उन्होंने अपनी प्राय: पूरी सम्पत्ति को ही मेडिकल कालेज अस्पताल, रायपुर को धर्मशाला बनाने के लिए दान के रूप में समर्पित कर दिया। इसके पहले तक, न जाने कितने धन-कुबेरों का सम्बन्ध उस अस्पताल से हुआ होगा। कई तो स्वयं के इलाज के लिए भी वहाँ गए होंगे। मगर किसी का ध्यान गरीब परिवार से आए मरीजों के रिश्तेदारों की कठिनाइओं की ओर आकृष्ट नहीं हुआ। बिन्नीबाई भी अपने इलाज के लिए मेडिकल कालेज अस्पताल आई थीं। सम्भव है उनके अपने इलाज के लिए उनके पास यथेष्ट राशि रही हो। उनके साथ आए परिवार के लोगों को कोई दिक्कत नहीं हुई होगी। पर उस समय भी उनकी निगाहों ने अस्पताल में इलाज कर रहे मरीजों के परिवारों को, अस्पताल के आसपास खुले स्थानों में या किसी पेड़ के नीचे गर्मी, बारिश और ठंड की पीड़ा झेलते देखा, उनका हृदय द्रवित हो उठा होगा और उन्होंने सोचा कि इनके सर छिपाने के लिए छाया बन जाती, तो कितना अच्छा होता ! राजनीति से जुड़ी होतीं तो उसके लिए चन्दा बटोरने लगतीं या सरकार के पास आवेदन भेजतीं या एक वक्तव्य छपवा देतीं और इसी में अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेतीं।

परन्तु बिन्नीबाई सोनकर ने ऐसा कुछ नहीं किया। वे ऐसी उपदेशक नहीं थीं, जिनके लिए सन्त तुलसीदास जी ने कहा है – 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे'। स्वयं से शुरू करनेवाले बहुत कम होते हैं। बिन्नीबाई ने अपने अन्तर्मन को टटोल कर देखा और अपने मन से पूछने लगीं – "मैं इनके लिए क्या कर सकती हूँ? कितनी पूँजी मेरे पिता ने मेरे पास छोड़ी है? मैं तो उनकी इकलौती बेटी हूँ। मेरी अपनी इकलौती बेटी के पास भी उसके जीवन-यापन के लिए पर्याप्त धन है। तो फिर क्यों न अपनी सम्पत्ति को मैं इस शुभ कार्य में लगा दूँ। धार्मिक वृत्ति की प्रधानता तो बिन्नीबाई में थी ही। वे भारत के अधिकांश तीर्थ भी हो आई थीं। कई बार कुटुम्ब-भोज भी करा चुकीं। उनके दरवाजे से कोई भूखा नहीं गया। मन्दिर भी बनवाया और स्कूल के लिए भूमि-दान करके भवन भी बनवाया। रामकुण्ड में स्थित उस विद्यालय का नाम बिन्नीबाई सोनकर प्राथमिक विद्यालय है। वृद्धावस्था में भी उन्हें अपनी बाँहों का भरोसा था। वे अपने हाथों से खाना पकाकर खाती और खिलाती थीं। बुढ़ापे में भी भली-चंगी थीं। उनकी कर्मठता ने ही उन्हें निरोग बना रखा था।

उनके करुणा से भरे हृदय को अस्पताल में आए मरीजों के रिश्तेदारों की वेदना नहीं सही गई। उनके लिए छाया बनाने की सोचते हुए बिन्नीबाई ने रात गुजारी। सुबह होते ही वे अपने भतीजे और ममेरे भाई तथा व्यवसाय से शिक्षक श्री रामविशाल सोनकर के पास सलाह लेने गईं। वे अपनी चाची की भावना जानकर प्रफुल्लित हो उठे। वहीं उनके पुत्र डॉ. अशोक सोनकर भी खड़े थे। जो उनके नाती होते हैं। उन दिनों मेडिकल कॉलेज में एम.डी. कर रहे थे। उन्होंने भी इस प्रस्ताव पर अपनी खुशी जाहिर की। सभी ने मिलकर एक राय से अस्पताल-परिसर में धर्मशाला बनाने का निर्णय लिया। डॉ. सोनकर ने आवश्यकता के अनुसार अनुमति लेने की खानापूर्ति की। जिला एवं अस्पताल के अधिकारियों ने धर्मशाला बनाए जाने की अनुमति भी प्रदान कर दी।

अब लागत के अनुसार धन देने का समय आया। बिन्नी बाई को अपने धन का मोह तो कभी रहा नहीं। वे उसे शुभ कार्य में लगा देना चाहती थीं। उन्होंने अपने पिता स्व. श्री घुटरूराम सोनकर से प्राप्त एक एकड़ की बाड़ी, जिसमें वे उस समय तक सब्जी उत्पादन करती थी और जो अब शहर के बीच आ गया है, को बेच देने का निर्णय लिया। उसे

बेचने पर उन्हें आठ लाख रुपये प्राप्त हुये। उसे वे तुरन्त धर्मशाला-भवन के निर्माण के लिए जमा कर आईं। धर्मशाला निर्माण का कार्य शुरू हुआ। धर्मशाले के पूरी तौर से निर्मित हो जाने पर ७ सितम्बर १९९६ ई. के दिन को तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह जी ने विधिवत् उसका उद्घाटन किया। उस समारोह में उन्होंने बिन्नीबाई की दानवीरता की भूरी-भूरी प्रशंसा की तथा उनके लिए एक हजार रुपये मासिक पेंशन देने की घोषणा कर दी। परन्तु उन्होंने उसे लेने से इन्कार कर दिया। बाद में अपने माता-पिता बिसाहिन बाई एवं घुटरुरामजी के नाम पर उसी धर्मशाला के पास पाँच कमरों का धर्मशाला बनाने के लिए और भी पाँच लाख रुपये दिये, जिसके लिए उन्होंने प्रमुख मार्ग पर स्थित अपने मकान को बेच दिया। ऐसे सज्जनों के लिए कहा गया है – 'कंचन माटी जान्यो'। लोग बाजार में दुकान पाने को तरसते हैं। बिन्नीबाई ने धर्मशाला बनाने के लिए बाजार के दुकान को बेच दिया। कुशालपुर की खेती भी बेच दी। उन्होंने अपने भविष्य के जीवन की चिंता नहीं की। उसे परमात्मा के हाथों में सौंप दिया। अपने लिए मात्र एक कच्चा मकान रखा और उसी में एक तपस्विनी की भाँति निवास करती रहीं।

प्रात: एक पहर रात रहते ही जागने की उनकी दिनचर्या थी। उठते ही वे अपने बनाये मन्दिर के प्रांगण की सफाई कर आतीं, फिर स्नान करके भगवत्-चिन्तन में लग जातीं – हरि-स्मरण और काम दोनों साथ-साथ चलता। सबको प्रेम बाँटती रहतीं। किसी से दुराव नहीं – "कबिरा खड़ा बाजार में सबकी मांगे खैर।" उन्हें अभिमान तो छू ही नहीं गया था। अपने दानवीरता की कभी किसी से चर्चा नहीं करतीं, न ही मान-बड़ाई की लालसा रखतीं, जो कुछ उन्होंने किया उसके पीछे उनकी करुणा थी। सब कुछ सहज रूप में, जैसे भक्त करमा माता ने भगवान को खिचड़ी खिलाई हो।

यह संस्कार उन्हें अपने माता-पिता एवं अपने समाज से मिला। उनकी माँ बहुत ही सात्त्विक वृत्ति की थीं। पुत्री पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उसी प्रकार छत्तीसगढ़ सोनकर समाज अपनी सात्त्विकता के लिए पूरे भारत में प्रसिद्ध है। वे अपने समकक्ष जातियों में सबसे आगे हैं। इनका जीवन बहुत ही सात्त्विक होता है। साग-सब्जी उत्पादन ही इनका मुख्य व्यवसाय है। ये लोग श्रमजीवी और व्यवसायी भी हैं। अब ये शिक्षा की ओर बढ़ रहे हैं। इनमें इंजीनियर और डॉक्टरों की संख्या बढ़ रही है। ये लोग अपनी बालिकाओं को भी शिक्षित बना रहे हैं। रायपुर नगर और उसके आसपास सोनकर समाज के द्वारा बनाए अनेक स्कूल और धर्मशालाएँ हैं। पाँच धर्मशालाएँ तो इसी नगर में हैं। तीन स्कूल गढ़सिवनी में, प्रद्युम्न सिंह सोनकर उच्चतर माध्यमिक हाई स्कूल और वहीं नाथूराम सोनकर अस्पताल भी है। भाठागाँव में समाज द्वारा संचालित हाई स्कूल जो श्रीमती सकरहिन बाई के दान से निर्मित है। श्रीमति ढेलाबाई के नाम पर रिंग रोड में एक धर्मशाला है। रामकुण्ड का स्कूल भी बिन्नीबाई की भूमि पर बना है। इस तरह सोनकर समाज श्रमजीवी होने के साथ-ही-साथ बौद्धिक क्षमता के धनी होने के कारण इनकी शीघ्र उन्नति की बड़ी सम्भावना है। यह समाज सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में बहुत आगे है। तभी तो इस समाज ने बिन्नीबाई जैसे नि:स्वार्थ जनसेवी, करुण-हृदय दानवीर दिया।

श्रीमती बिन्नीबाई ने अपनी कड़ी मेहनत से एकत्र की गई आय एवं पुश्तैनी सम्पत्ति को बेचकर, अपनी जीवन भर की जमापूंजी का मोह न करते हुए, मानव-सेवा और त्याग का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया। कठिन और निर्धन परिस्थितियों में जीवन यापन करते हुए भी १५ लाख रुपयों का यह असाधारण दान प्रदेश के नागरिकों के लिए अनुकरणीय उदाहरण है। अपने करुणापूर्ण त्याग और सेवा की भावना से ओतप्रोत व्यक्तित्व के द्वारा बिन्नीबाई ने प्रदेश की महिलाओं के समक्ष एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया है।

असहाय, उपेक्षित एवं विषम परिस्थितियों में निर्वाह कर रहे लोगों की सहायता करने, सामुदायिक आवास का निर्माण कराने, उनकी उन्नति में सतत् प्रयत्नशील रहने, समाजसेवी प्रवृत्ति विशेषकर महिलाओं के प्रति गहरी संवेदन-शीलता, उत्कर्ष की भावना और अथक प्रयास के लिए महिला उत्थान के लिये छत्तीसगढ़ शासन ने २००१ ई. में सुश्री बिन्नी बाई सोनकर को मिनीमाता समाज सेवा सम्मान से विभूषित कर दो लाख रुपये की राशि से सम्मानित किया। (संकलित)

* * *

मानव-सेवा को समर्पित : बाबा आमटे

बचपन में माता-पिता उन्हें प्यार से 'बाबा' कहकर पुकारा करते थे। वे उनकी अपेक्षाओं और आकांक्षाओं पर तो खरे उतरे ही, मानवता और दीन-दुखियों की ऐसी सेवा की कि पूरी दुनिया उन्हें बाबा के नाम से ही पुकारने लगी।

मुरलीधर देवीदास आमटे को बाबा आमटे के तौर पर जाननेवाले ज्यादातर लोग समझते हैं कि उन्हें मानवता के प्रति सेवा-भाव और साधु-संतों जैसे सरल एवं स्नेही स्वभाव के कारण 'बाबा' कहा जाता है, लेकिन सच्चाई यह है कि उनके माता-पिता ने उन्हें बचपन में प्यार का यह सम्बोधन दिया था। २४ दिसम्बर १९१४ को वर्धा के हिंगनघाट में जन्मे मुरलीधर देवीदास आमटे ने मानव-सेवा की ऐसी मिसाल कायम की कि उनकी हर उपलब्धि मील का पत्थर साबित हुई और सारी दुनिया में उन्हें एक सच्चे मानवतावादी के तौर पर स्वीकार किया गया। मुरलीधर देवीदास आमटे का जन्म एक ब्राह्मण जागीरदार परिवार में हुआ था और उस समय के रूढ़िवादी समाज और उनके परिवार के ऊँचे रसूख के बावजूद उन्होंने कुष्ठ रोगियों और तथाकथित छोटी जाति के लोगों के उत्थान हेतु जिस शिद्दत से काम किया, उससे लोगों ने उन्हें सन्त का दर्जा दिया। इसके अलावा महात्मा गाँधी ने उन्हें अभय साधक कहकर सम्बोधित किया था।

बाबा आमटे ने कानून की पढ़ाई की और वर्धा में वकील के रूप में कामकाज शुरू किया। लेकिन चन्द्रपुर जिले के लोगों की गरीबी और कठिनाइयों ने उनके मन-मस्तिष्क पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्होंने वकालत छोड़कर झाड़ू लगानेवालों और अन्य लोगों के साथ रात में उसी प्रकार का काम करना शुरू कर दिया। उनका विवाह वर्ष १९४६ में सुश्री साधना गुले शास्त्री के साथ हुआ। इन दोनों समाज-सेवकों के विवाह के पीछे भी एक घटना है। दरअसल साधना ने एक पुराने नौकर के लिये एक विवाह समारोह का बहिष्कार किया था। इससे आमटे काफी प्रभावित हुये और साधना के माता-पिता से उनका हाथ माँगने उनके घर पहुँच गये। बाबा आमटे ने देश को एकता के सूत्र में बाँधने के लिये दो बार 'भारत जोड़ो अभियान' आयोजित किया। पहली बार वर्ष १९८५ में कश्मीर-से-कन्याकुमारी तक और दूसरी बार वर्ष १९८८ में असम-से-गुजरात तक। 'आनन्दवन आश्रम' बाबा आमटे के स्वप्नों का साकार रूप है। यह आश्रम उनकी कर्मभूमि बना, जहाँ उन्होंने मानव-कल्याण के अनेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये। उन्होंने उस समय समाज में व्याप्त कई भ्रान्तियों को न केवल तोड़ा, बल्कि समाज को अपने कार्यों से एक नई दिशा भी प्रदान की।

बाबा आमटे के सेवा-कार्यों से प्रभावित होकर सरकार तथा विभिन्न संस्थाओं ने उन्हें अनेकों पुरस्कार प्रदान किये। यथा १९७१ में पद्मश्री, १९७६ में इचलकरंजी के फाय फाउंडेशन का राष्ट्रभूषण पुरस्कार, १९७९ में जमनालाल बजाज पुरस्कार, १९८० में एन.डी. दिवान पुरस्कार, १९८३ में रामशास्त्री पुरस्कार तथा अमेरिका का डैमियन डाटन पुरस्कार, १९८५ में फिलीपिन्स का मैगसेसे पुरस्कार तथा इन्दिरा गाँधी स्मृति पुरस्कार, १९८६ में पद्मविभूषण, राजा राममोहन राय पुरस्कार तथा विकलांग कल्याण पुरस्कार, १९८७ में फादर मैशियो प्लेटिनम जुबली अवार्ड, १९८८ में जी. डी. बिरला अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार तथा संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार पुरस्कार, १९९० में अमेरिका का प्रतिष्ठित दी टेम्पलटन पुरस्कार तथा इंटरनेशनल जिराफी अवार्ड, १९९१ में संयुक्त राष्ट्र ग्लोबल पुरस्कार, १९९२ में स्वीडन का जीवन गौरव पुरस्कार, १९९७ में भाई कन्हैया पुरस्कार, १९९९ में गाँधी शान्ति पुरस्कार तथा डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार, २००४ में महाराष्ट्र-भूषण सम्मान।

सम्मान – १९८० में नागपुर विश्वद्यिालय की ओर से डी. लिट्, १९८१ में पंजाबराव कृषि विद्यापीठ की ओर से कृषिरत्न, १९८५ में में पुणे विश्वविद्यालय की ओर से डी. लिट्, १९८८ में पश्चिम बंगाल के शान्ति निकेतन का देशीकोत्तम, २००० में नागपुर विदर्भ साहित्य संघ की ओर मानद साहित्य-वाचस्पति उपाधि प्रदान की गयी। इसके अलावा बाबा आमटे पर कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय फिल्मकारों ने डाक्युमेटरी फिल्में भी बनाई।

बाबा आमटे का छत्तीसगढ़ से हार्दिक प्रेम

बाबा आमटे का छत्तीसगढ़ से गहरा जुड़ाव रहा है। उनका चार वर्षों का समय जिला दुर्ग के अन्तर्गत आनेवाले बेमेतरा में गुजरा है। वे वर्ष १९३६-३७ में पिता की इच्छा को पूरा करने नागपुर से बेमेतरा आकर वकालत के पेशे से जुड़े। उन्होंने अपने बहनोई अधिवक्ता जी.एम. पोल के साथ चार वर्षों तक दुर्ग में वकालत की। वे बेमेतरा में रहते हुये वकालत के साथ-साथ सामाजिक मुद्दों पर भी ध्यान देते थे।

जब बाबा आमटे का हृदय द्रवित हो गया

१९२४ ई. में १० वर्ष की अल्प आयु में ही मुरलीधर के जीवन में समाजसेवा की प्रेरणा जगी। उस वर्ष दीपावली के अवसर पर जब पिता ने मुरलीधर और उनके भाई मधुकर को जब पटाखे खरीदने के पैसे दिये, तो भाई ने तो पटाखे खरीदे, किन्तु मुरलीधर आमटे ने अपने हिस्से के सारे पैसे एक अन्धे भिखारी को सौंप दिये।

बाबा आमटे के प्रति श्रद्धांजलि

९ फरवरी, २००८ को उनके दिवंगत हो जाने पर भारत की राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा पाटिल ने कहा कि बाबा आमटे ने समूचा जीवन वंचितों और समाज के पिछड़े वर्ग के लोगों की सेवा में लगा दिया।

प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह ने उन्हें सच्चा गाँधीवादी एवं गरीबों का मसीहा बताते हुए कहा कि बाबा आमटे ने अपना पूरा जीवन गाँधीवादी मूल्यों की स्थापना में लगा दिया।

श्री लालकृष्ण आडवानी ने बाबा आमटे के निधन पर शोक व्यक्त करते हुये कहा कि वे देश में सबसे सम्मानित समाज-सेवियों में थे; उन्हें कुष्ठ रोगियों, आदिवासियों और गरीब तबकों की सेवा के लिये सदैव याद किया जायेगा।

* * *

छत्तीसगढ़ की विशिष्टतायें

नर्मदा प्रसाद मिश्र

तपोभूमि यह ऋषियों की है,
कला भूमि कलचुरियों की ।।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरण-रज से सुवासित छत्तीसगढ़ की माटी को कौन व्यक्ति माथे पर लगाना नहीं चाहेगा? जहाँ भगवान राजीवलोचन (विष्णु) की धरती चित्रोत्पला गंगा की कल-कल सामवेदी ध्वनि से गुंजित है। छत्तीसगढ़ का प्रयाग, जहाँ भगवती चित्रोत्पला से गले मिलती हैं – पैरी तथा सोंढुर जलमालाएँ, वहीं दूसरी ओर भोले बाबा कुलेश्वर डमरू निनाद कर चित्रोत्पला की कल-कल ध्वनि से ताल मिलाते हुए भगवान राजीवलोचन का यशोगान करते हैं। भगवान पटेश्वर, ब्रह्मेश्वर, चम्पेश्वर, फिंगेश्वर और कोपेश्वर के मन्दिरों से नि:सृत हर-हर महादेव और नम: शिवाय की ध्वनि अपने भोले-भाले भक्तों को अभयदान देती रहती है।

छत्तीसगढ़ : एक शक्तिपीठ

एक ओर दन्तेवाड़ा की दन्तेश्वरी, दूसरी ओर अनेकानेक सरोवरों से सुशोभित रतनपुर की महामाया, डोंगरगढ़ की बमलेश्वरी, खल्वाटिका की खल्लारी माता, सिरपुर की महिषासुर-मर्दिनी, शृंगारपुर की मौलीमाता, रायपुर की महामाया, बंजारी माता, कंकाली माता तथा कालीबाड़ी की माँ काली समूचे छत्तीसगढ़ को दुलार बाँटती रहती हैं। आरंग की अष्टभुजी महामाया, माँ काली, छिन्नमस्ता, लाफागढ़ की लाफादेवी, मल्हार की गंगा-यमुना, सरस्वती, डिडनेश्वरी, सरगुजा की महामाई, धमतरी की बिलाईमाता, कांकेर की कंकाली देवी, अभनपुर की चण्डी माँ अपने भोले-भाले भक्तों को शक्ति प्रदान करती हैं। इनका दर्शन करने देश-विदेश के श्रद्धालुओं की भीड़ उमड़ पड़ती है। लगता है मानो छत्तीसगढ़ शक्तिमय हो गया हो। वस्तुत: यह धरती ही जाग्रत शक्तिपीठ है।

जगत्-जननी माता कौशल्या, जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसे पुत्र को जन्म देकर आर्यावर्त ही नहीं वरन् अखिल ब्रह्माण्ड को धन्य कर दिया, यहीं के राजा भानुमन्त की पुत्री थीं। भानुमन्त, कौशल (छत्तीसगढ़) के राजा थे। निर्वासन काल में माता सीता को छत्तीसगढ़ (तुरतुरिया) में ही तो प्रश्रय मिला था। लव-कुश की जन्मस्थली बाल्मीकि-आश्रम तुरतुरिया बलौदाबाजार से अनुष्टुप छन्द के मर्म को सुना जा सकता है। पुण्यसलिला महानदी के उद्गमस्थल (सिहावा) पर स्थित श्रृंगी ऋषि के आश्रम से आज भी वैदिक मंत्रों की ध्वनियाँ ध्वनित होती हैं। इसका प्राचीन नाम महेन्द्र पर्वत था, जहाँ कभी भगवान परशुराम ने तपस्या की थी। सप्तर्षि आश्रम, अत्रि-आश्रम, मुचकुन्द ऋषि के आश्रम को देखकर ऐसा लगता है कि यहाँ आश्रम-संस्कृति का वर्चस्व रहा हो।

छत्तीसगढ़ अनेक धर्मों एवं सम्प्रदायों का अद्भुत संगम रहा है। वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन, सतनामी, कबीरपंथी, इस्लाम, सिक्ख तथा ईसाई धर्म के लोग अबाध गति से अपने इष्ट की आराधना करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यहीं का चम्पारण वैष्णव सम्प्रदाय के अग्रणी महाप्रभु वल्लभाचार्य की जन्मस्थली होने के कारण अनेकानेक भक्त प्रतिवर्ष उस स्थल की चरण-रज माथे से लगाकर अपने को धन्य मानते हैं। चन्देल क्षत्रिय जगजीवन दास के सिद्धांतों से प्रेरित होकर गुरु घासीदास ने सतनामी सम्प्रदाय का प्रवर्तन कर समूचे छत्तीसगढ़ में सत्य का प्रचार-प्रसार किया। वे गिरौदपुरी (छत्तीसगढ़) में ही पैदा हुए थे।

असाधारण एवं बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी महायान शाखा के संस्थापक, विश्वविख्यात् रसायनवेत्ता बोधिसत्त्व नाजार्जुन (जो नालन्दा विश्वविद्यालय के कुलपति थे) ने यहीं महानदी के सुरम्य तट पर स्थित सिरपुर (श्रीपुर) में अनेक वैज्ञानिक प्रयोग कर दुनिया को चमत्कृत कर दिया था। यह धरती आदि-शंकराचार्य के गुरु आचार्य भगवत् गोविन्दपाद, बोधिसत्त्व पद्मसम्भव, सिद्धाचार्य इन्द्रभूति, महाकवि ईशान, सम्राट् बालार्जुन, आचार्य बुद्धघोष, योगाचार्य हिरण्यनाभ आदि तप:पूतों की यशोगाथा से सुरभित है। आज भी महाराज मोरध्वज के दान की गाथा आरंग को जीवन्त बनाये हुए है। शबरी-नारायण पर भगवान जगन्नाथ की अहैतुकी कृपा है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार हरि ठाकुर ने सप्रमाण लिखा है कि बिलासपुर जिले में महानदी और शिवनाथ के संगम पर शबरी-नारायण का मन्दिर है, निश्चय ही शबरों ने इस स्थान पर शबरी की स्मृति में इस मन्दिर का निर्माण कराया होगा। शताब्दियों से यह स्थान इस क्षेत्र का प्रमुख तीर्थ स्थान है। भगवान जगन्नाथ शबरों के ही इष्टदेव थे। भगवान जगन्नाथ

का मूल स्थान शबरी नारायण है।''

छत्तीसगढ़ के भग्नावशेषों एवं संग्रहालयों में रखी हुई बोलती प्रतिमाएँ आज भी याद दिलाती हैं – पाण्डव-वंशीय, वाण-वंशीय, सोम, कल्चुरि, छिन्दक, नागवंशी, गोड़ एवं गंग-वंशीय राजाओं की कलाप्रियता की। छत्तीसगढ़ कलचुरि राजाओं की कलाभूमि रहा है। सिरपुर के गन्धेश्वर मन्दिर में स्थापित विष्णु, राजिम की त्रिविक्रम प्रतिमा, ताला (बिलासपुर) की विलक्षण शिव-मूर्ति, रतनपुर की विष्णु एवं भैरव की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से भी अद्भुत है। ब्रह्म, जीव तथा माया की क्रीड़ास्थली भोरमदेव मन्दिर (कवर्धा) छत्तीसगढ़ का खजुराहो है। इसकी कला अप्रतिम है। शिल्पी द्रोणादित्य एवं वास्तुविद् केदार की छाया समूचे छत्तीसगढ़ में विस्तीर्ण है। आज भी बस्तर की धातु एवं काष्ठकला पर कोई भी देश गर्व कर सकता है। मैनपाट (सरगुजा) में पैगोड़ा शैली के मठ तथा भगवान बुद्ध और दलाईलामा की मूर्ति अत्यन्त जीवन्त बन पड़ी है। छत्तीसगढ़ में जगह-जगह भगवान बुद्ध तथा महावीर स्वामी की मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसा लगता है कि यहाँ कभी बौद्ध एवं जैन धर्म का विशेष प्रभाव रहा है। पुरातात्विक दृष्टि से छत्तीसगढ़ अत्यंत वैभवशाली है। धातुकला निर्माण में पारंगत यशस्वी कलाकार द्रोणादित्य एक सहृदय कवि भी थे। उनकी कला को देखकर दर्शक भाव-विह्वल हो उठतें हैं। भूमि स्पर्श मुद्रा में भगवान बुद्ध, पद्मपाणि, वज्रपाणि और मंजुश्री आदि धातु-प्रतिमाएँ सौन्दर्य एवं कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। राजा जैतसिंह के शासन-काल में निर्मित दूधाधारी मठ (रायपुर) आज भी विद्या का केन्द्र बना हुआ है।

छत्तीसगढ़ की धरती उत्सवधर्मी एवं लोकगीतमय है। यहाँ का जन-जीवन लोकगीतों एवं लोकनाट्यों में ही जीता है। जब यहाँ की नारियाँ सोहर के गीत गाती हैं, तो साथ में गाती हैं नदियाँ, झूमते हैं पर्वत और किल्लोल करते हैं वन-पाँखी। 'हरि के नाम तरी लागे खाँचा' तथा अजब गीतों के साथ प्रकृति का कण-कण भाव-विह्वल हो उठता है। सुआ, लोरिक चन्दा एवं पण्डवानी के साथ, केवल प्रकृति ही नहीं थिरकती, थिरकते हैं छत्तीसगढ़ के महा-वन-कान्तार। सरवन, बोधरू, ददरिया, पनवारा, नगेसर, कइना, भोजली तथा मादर-मृदंग के साथ माता की सेवा के गीतों को सुनने वाले भाव-विभोर हुए बिना नहीं रह सकते। पण्डवानी गीत के माध्यम से तीजनबाई विदेशों में भी विख्यात हो चुकी हैं। राहस छत्तीसगढ़ की आदिम कला है और यहाँ की सांस्कृतिक सम्पन्नता का द्योतक है। दशहरा, होली, दीवाली, राखी, तीजा के साथ हरेली, पोला, छेरछेरा, राउत नाचा, गौंचा के पर्व छत्तीसगढ़ के लोगों को उत्सवधर्मी बनाये हुए हैं।

यह धरती है छायावाद के प्रवर्तक मुकुटधर पाण्डेय की, तार-सप्तक के प्रमुख कवि गजानन माधव मुक्तिबोध की। तुलसी-दर्शन के अध्येता डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र एवं बहुमुखी प्रतिमभा के धनी इतिहास-मर्मज्ञ रचनाकार हरि ठाकुर, छत्तीसगढ़ भाषा के व्याकरण के सर्जक हीरालाल काव्योपाध्याय, पिंगलाचार्य जगन्नाथ प्रसाद भानु, रामदयाल तिवारी, सुन्दरलाल शर्मा, वामन बलीराम लाखे, लोचन प्रसाद पाण्डेय, अमीर अली, डॉ. शेखर शेष, श्रीकान्त वर्मा, नारायणलाल परमार, श्यामलाल चतुर्वेदी जैसे साहित्यकारों ने छत्तीसगढ़ का नाम रोशन किया है। इन्होंने साहित्य की तमाम विधाओं में कलम चलाकर सरस्वती के कोश को भरने का स्तुत्य प्रयास किया है।

छत्तीसगढ़ की संस्कृति के विकास में ऋषि-मुनियों राजाओं, शिल्पकारों, लेखकों, कवियों तथा चिन्तकों के अतिरिक्त 'सुराजी वीरों' का भी विशेष स्थान रहा है। सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पुनर्जागरण में सोनाखान के महान विप्लवी नारायण सिंह, सम्बलपुर के क्रांतिवीर सुरेन्द्र राय, हनुमान सिंह, स्वदेशी आन्दोलन के सूत्रधार सुन्दरलाल शर्मा, ठाकुर प्यारेलाल सिंह, मध्यप्रदेश के निर्माता पं. रविशंकर शुक्ल, आजादी के दीवाने मौलाना अब्दुल रफऊ, नारायणराव मेघावाले, रामप्रसाद देशमुख, घनश्याम सिंह, वामनराव, माधवराव सप्रे, अनन्तराम, महन्त लक्ष्मीनारायण दास, वानरसेना के संगठक कप्तान बलीराम आजाद आदि सुराजी वीर तथा शिक्षाशास्त्री ज. योगानन्दम् का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। छत्तीसगढ़ जहाँ एक ओर धान का कटोरा है, वहीं दूसरी ओर रत्नों की खान भी है। हीरा, लोहा, कोयला, बाक्साइट तथा लाइमस्टोन आदि के कारण यहाँ की धरती रत्नगर्भा नाम को भी सार्थक करती है। भिलाई इस्पात उद्योग यहाँ का महान् तीर्थ है।

छत्तीसगढ़ समय-समय पर चेदिशगढ़, चेदिकोशल, चेदी जनपद, दक्षिणापथ, महाकौसल, महाकान्तार, कौसल आदि अपने विभिन्न नामों से विख्यात रहा है। राजा ऋतुपर्ण, कल्माषपाद, कुश जैसे महान प्रतापी राजाओं ने इसे वैभवशाली बनाया है। साहित्य, कला, संगीत, धर्म, प्राकृतिक सम्पदा चाहे जिस दृष्टि से छत्तीसगढ़ को देखें, यहाँ की संस्कृति विशाल रही है। मितान की परम्परा अनोखी एवं अनूठी है। वैदिक काल से लेकर आज तक इस धरती ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। इतिहास एवं साहित्य मर्मज्ञ हरि ठाकुर ने बहुत सही लिखा हैं – ''छत्तीसगढ़ एक राज्य के रूप में प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है, जिसका इतिहास वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो जाता है। आश्रम संस्कृति का इस भू-भाग पर असाधारण रूप से विकास हुआ था।'' ***